पिता के पत्र

भिक्षु के पत्र

लेखक

आनन्द कौसल्यायन

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग।

प्रकाशक

बा० केदारनाथ गुप्त एम० ए०,

प्रोप्राइटर- छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग ।

प्रथम संस्करण १२००] जनवरी १९४० [मूल्य ।॥)

मुद्रक

रघुनाथप्रसाद वर्मा,

नागरी प्रेस, दारागंज,

प्रयाग ।

अनुज

हरिदास

को

पत्र परिचय

७-६-३५ को पहला पत्र और १-३-३६ को अन्तिम। कोई चारवर्ष में कुल जमा अठ्ठारह पत्र। इन पत्रों की अपनी कहानी है!

सन् ३५ में जब सारनाथ से 'धर्मदूत' का प्रकाशन आरंभ हुआ तो उसके पहले वर्ष के दूसरे ही अंक में पहला पत्र छपा। इस पत्र के अथवा किसी दूसरे पत्र के लिखे जाते समय शेष पत्रों के लिखे जाने का कोई सिलसिला पहले से दिमाग़ में न था। एक धुंधला सा ख़्याल अवश्य था कि शायद एक एक पत्र करके किसी दिन इन पत्रों में बौद्ध-धर्म के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों पर विचार हो जाय।

यों तो सभी पत्र 'योगेन्द्र' को लिखे गए हैं, लेकिन कहना अनावश्यक है कि यह 'योगेन्द्र' कोई व्यक्ति विशेष न होकर उन सब परिचितों तथा अपरिचितों [illegible] जिनकी बुद्ध-धर्म संबंधी लिखित वा मौखिक जिज्ञासाएँ ही इन पत्रों के लिखे जाने का कारण हुई हैं। कोई कोई पत्र किसी घटना-विशेष से प्रभावित होकर भी लिखा गया है।

इन पत्रों के लिखे जाने का जो कारण रहा है वही एक प्रकार से इनके प्रकाशन का भी है। जिन प्रश्नों पर इन पत्रों में विचार किया गया है जैसे (१) बौद्ध-धर्म के साधारण परिचय के लिये कौन कौन सी किताब उपयोगी होगी? (२) बौद्धलोग ईश्वर तथा आत्मा को मानते हैं अथवा नहीं? (३) बौद्ध वेद को मानते हैं वा नहीं? (४) बौद्ध वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं अथवा नहीं?

(५) बौद्ध धर्म पुनर्जन्म को मानता है अथवा नहीं ? वे ऐसे प्रश्न हैं जो प्रतिदिन पूछे जाते हैं, और शायद तब तक हमेशा पूछे जाते रहेंगे जब तक हम भारतीयों को बौद्ध-धर्म की कुछ कहने सुनने लायक जानकारी नहीं हो जाएगी। इन पत्रों में दो चार पत्र ऐसे हैं जिनमें भिक्षु की चारिका (=यात्रा) का ही वृतान्त है। वे भी बौद्ध देशों की यथार्थ अवस्था के परिचायक होने से रहने दिए गए हैं। हमें आशा है कि एक 'भिक्षु' के यह 'पत्र' कुछ लोगों की जिज्ञासाओं को शान्त करने तथा दूसरे कुछ महानुभावों की बौद्ध-धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा को उत्तरोत्तर बढ़ाने वाले सिद्ध होंगे।

जिन—कम्पोजिटर, प्रूफरीडर, मुद्रक, तथा प्रकाशक महोदयों—के सहयोग के बिना यह 'भिक्षु के पत्र' प्रकाश में न आते, वे सभी लेखक तथा पाठकों के धन्यवाद के अधिकारी हैं।

हां, विज्ञ पाठकों से एक प्रार्थना है कि यदि इन पत्रों में कोई असाधारण त्रुटि दृष्टि-गोचर हो तो उसे इन पंक्तियों के लेखक तक पहुँचाने की कृपा करें—जिससे किसी आगामी संस्करण में उनका मार्जन हो सके।

मूलगन्ध कुटी विहार
सारनाथ
२१—१२—३९

आनन्द कौसल्यायन

विषय-सूची

मित्र के पत्र

बौद्ध साहित्य

सारनाथ

७-६-३५

प्रिय योगेन्द्र,

तुम समझते होगे कि तुम्हारा पत्र इतनी देर से मिलने मे मैं तुमसे रुष्ट होगया हूँ। मैं तनिक रुष्ट नहीं हूँ। यह बात तुम्हें बतानी तो नहीं चाहिये, कहीं तुम इसका नाजायज़ फ़ायदा न उठाओ, वरना सच तो यह है कि किसी का जल्दी जल्दी पत्र आना मुझे पसन्द नहीं। पत्र लिखने के लिये, पत्र लिखना बेकार आदत है, जिससे डाकखाने के सिवाय और किसी का कोई फ़ायदा नहीं होता मैं तो जहाँ तक बन पड़ता है यही करता हूँ कि जब तक कुछ लिखने के लिये न हो कलम को हाथ नहीं लगाता। लेकिन जब लिखना हो तो फिर आलस्य भी नहीं करता।

तुमने अपने पत्र में बौद्ध-धर्म के बारे में कुछ जानने की इच्छा प्रकट की है। यह देख कर प्रसन्नता हुई कि तुम अभी तक अपने आप को वर्तमान समय की उस लहर में बहने से बचा सके हो जो धर्म के नाम से ही नाक मुँह सिकोड़ना सिखाती है, जो समझती है कि संसार के धार्मिक साहित्य में आधुनिक लोगों के सीखने समझने लायक़ कोई चीज़ नहीं रह गई, अथवा जो समझती है कि हमारी वे जिज्ञासायें, जिनको हम धार्मिक जिज्ञासाएँ कह सकते हैं इस योग्य नहीं हैं कि उन पर गम्भीरता से विचार किया जाय। तुमने यह ठीक ही लिखा है कि जीवन के गम्भीरतम प्रश्न वे ही हैं जिनकी हम कई बार 'केवल धार्मिक प्रश्न' कह कर अवहेलना कर देते हैं। संसार में एक बड़ी हद तक हमारा व्यवहार हमारे इन्हीं प्रश्नों के निर्णय पर निर्भर करता है।

अब यदि तुम यह आशा रक्खो कि इस एक पत्र में मैं तुम्हारे बौद्धधर्म सम्बन्धी सभी प्रश्नों का उत्तर दे सकूँगा तब तुम्हें अवश्य निराश होना पड़ेगा। एक तो तुम्हारे प्रश्न हैं भी अनेक, और दूसरे उनमें से कई जरा गहरे और टेढ़े हैं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि इस पत्र में तो तुम्हारे पहले ही प्रश्न का उत्तर दिया जा सकेगा और उतना भी हो जाय तो बहुत समझना।

तुम्हारा पहला प्रश्न यही है न कि भगवान बुद्ध के जीवन की मूल सामग्री किन किन ग्रन्थों में उपलब्ध है? राष्ट्र भाषा हिन्दी में भगवान् बुद्ध का कौन सा जीवन चरित्र सर्वश्रेष्ठ और प्रमाणित कहा जा सकता है?

मुझसे कई लोगों ने अनेक बार यह प्रश्न पूछा है—क्या भगवान् बुद्ध अपने और अपने विचारों के बारे में कोई प्रामाणिक ग्रन्थ लिख-कर छोड़ गये हैं ? मैंने उन्हें यही उत्तर दिया है कि भगवान् ने अपने बारे में स्वयं न कोई ग्रन्थ लिखा न लिखवाया। जिस समय वे, महात्मा ईसा के जन्म से भी ६०० वर्ष पहले हम लोगों के कल्याणार्थ हमें उपदेश देते विचर रहे थे, उस समय अपने उपदेशों में वे कभी कभी अपने व्यक्तिगत जीवन की भी चर्चा कर देते थे। उनकी श्रद्धालु शिष्य मंडली के कुछ न कुछ लोग प्रायः उनके साथ रहते थे। धन्य थे वे लोग जिनको भगवान् के अपने मुख से उनकी अमृत-वाणी सुनने को मिली होगी ! भगवान् के परिनिर्वाण पर उन्हीं शिष्यों ने जिनका सामुहिक रूप से अब हम "संघ" कह कर स्मरण करते हैं, भगवान् के जीवन की घटनायें और उनके उपदेशों का संग्रह किया था। यह संग्रह दो भागों में विभक्त था। पीछे चलकर तीन भागों में विभक्त होगया। कुछ समय तक और बड़े काफी समय तक भगवान् के शिष्यों को भगवान् के यह उपदेश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कंठाग्र रखकर सुरक्षित रखने पड़े। लेकिन बाद में आवश्यकता होने पर यह उपदेश लिख लिये गये। इस समय हमें भगवान् के उपदेशों का जो संग्रह मिलता है वह ईसा की प्रथम शताब्दी में सिंहल द्वीप में लिखा गया है।

तुमने अपनी स्कूल की पुस्तकों में भी "त्रिपिटक" शब्द देखा होगा, तुम सोचते होगे कि यह त्रिपिटक क्या बला है ? त्रि=तीन और पिटक का मतलब समझ लो, "पुस्तकों का संग्रह"। सो त्रिपिटक का

मतलब है पाली-बौद्ध साहित्य की पुस्तकों के तीन संग्रह। इन पिटकों के बारे में विस्तार पूर्वक आगे चलकर तुम्हें स्वयं पता लग जायगा। अभी केवल इतना जान लो कि इन तीन पिटकों में से एक का नाम है 'सुत्त पिटक'। इसमें भगवान् बुद्ध के गम्भीर से गंभीर उपदेश सीधी-सादी भाषा में हैं। (२) विनय-पिटक, इसमें भगवान् बुद्ध के सन्यासी शिष्यों के नियमोपनियम हैं। (३) अभिधम्म पिटक, इसमें भगवान् बुद्ध के गंभीर से गंभीर उपदेश दार्शनिक परिभाषा में हैं जो गंभीर विचारकों के मनन करने योग्य हैं। बौद्ध इन्हीं तीन पुस्तक-समूहों को भगवान् बुद्ध के जीवन और उपदेशों के सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रामाणिक सामग्री मानते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तीनों पुस्तक-संग्रह पाली भाषा में हैं, तुम पूछोगे कि पाली भाषा क्या है? कठिन है या सरल? सीखनी चाहे तो कितने दिन में सीखी जा सकती है? इत्यादि। इन प्रश्नों को तुम फिर कभी पूछना, अभी इतनाही जान लो कि जो हिन्दी हम इस समय बोलते हैं वही ढाई हजार वर्ष पहले "पाली या मागधी कहलाती रही है। अपनी हिन्दी को यदि "पाली" की बेटी कहो तो कोई हर्ज नहीं। कठिन या सरल? किसकी अपेक्षा? यदि संस्कृत की अपेक्षा, तब तो बहुत सरल है। जहाँ पाणिनि--व्याकरण के चार हजार सूत्र हैं, वहाँ पाली व्याकरण में ८०० या एक हजार सूत्रों से ही काम चल जाता है। यदि संस्कृत का पहले से कुछ अच्छा ज्ञान हो (आशा है स्कूल के दिनों की संस्कृत अभी भूली न होगी) तो मेरे ख्याल में तीन महीने के अभ्यास में पाली में अच्छी गति हो सकती है। यह देखकर

मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि इतने थोड़े से परिश्रम से इतने उदार, विशाल और गंभीर साहित्य का द्वार खुल सकने पर भी इतने थोड़े लोग उस द्वार को खटखटाते हैं।

संस्कृत में "बुद्धचरित" नामक अश्वघोष का जो महाकाव्य है, उसके बारे में तो तुमने सुना ही होगा। क्या कभी पढ़ा भी है? कितना सरल और कितना सरस है। महाकवि कालिदास को छोड़कर और तो कोई भी अश्वघोष से टक्कर नहीं ले सकता। और भाई, सच तो यह कि कहीं कहीं महाकवि भी पीछे पड़ गये प्रतीत होते हैं।

यों तो "ललित विस्तर" नामक एक और भी संस्कृत-ग्रन्थ है। कहते हैं "Light of Asia" नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी काव्य के रचयिता श्री एडविन एरनाल्ड ने अपने काव्य की सामग्री और प्रेरणा इसी पुस्तक से ली है। Light of Asia तो मैंने पढ़ी है। यदि तुमने न पढ़ी हो तो लिखना एक प्रति भेज दूंगा। इसे मेरी ओर से अपने जन्मदिन की भेंट समझना। लेकिन "ललित विस्तर" नहीं पढ़ी। इसलिये ईमानदारी इसी में है कि उसके बारे में मैं सुनी सुनाई कोई सम्मति न दूं।

तुम कहोगे कि मुझे इन पाली और संस्कृत की पुस्तकों से उतना मतलब नहीं, हिन्दी में बताइये कि मैं कौन सी पुस्तक पढ़ूं। हिन्दी में भगवान् बुद्ध के कई छोटे मोटे जीवन चरित्र निकले हैं। अभी भदन्त उत्तमजी ने भी "भगवान् बुद्ध और उनके उपदेश" शीर्षक एक अच्छी पुस्तक छपवाई है। तुम चाहो तो उसे पढ़ सकते हो, लेकिन यदि दो चार पुस्तकें न पढ़कर एक ही पुस्तक पढ़नी चाहो और ऐसी जो

हरएक से प्रामाणिक हो तो मैं तुम्हें सलाह दूंगा कि तुम श्री राहुल सांस्कृत्यायन जी की बुद्धचर्या ज़रूर पढ़ो।

मेरा अनुमान है कि तुम उन विद्यार्थियों में से नहीं हो जो बड़े ओछे पाठक होते हैं जो किसी गम्भीर ग्रन्थ को—किसी बड़ी पुस्तक को सप्ताह दो सप्ताह मन लगाकर पढ़ ही नहीं सकते। यदि ऐसी तबीयत हो तो "बुद्धचर्या" को हाथ मत लगाना, कोई छोटी किताब पढ़ना।

गर्मी के मारे कलम की स्याही सूख रही है। पत्र भी शायद लम्बा होगया। अस्तु,

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन

शब्द प्रमाण

पटना

११-७-३५

प्रिय योगेन्द्र,

परसों गया में बुद्ध-गया-कमीटी की मीटिंग समाप्त हो गयी। चाहिये तो था कि मैं गया से सीधा सारनाथ चला जाता, लेकिन "योगी" सम्पादक श्री० बेनीपुरी जी के आग्रह की मजबूरी थी—सारनाथ जाने से पहले यहाँ आना पड़ा। जिस कार्य के लिये आया था, वह समाप्त हो गया। सारनाथ की गाड़ी जाने में कुछ देर है। सोचा, बैठे २ तुम्हें पत्र ही लिख दूँ।

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि तुमने "बुद्ध-चर्या" मंगा ली और उसका एक हिस्सा पढ़ भी डाला। निस्सन्देह उसमें कुछ "पौराणिक गप्पें" हैं। तुम यह जानना चाहते हो कि क्या एक बौद्ध के लिये वे सभी मान्य हैं?

मालूम होता है कि मैंने अपने पिछले पत्र में त्रिपिटक की रचना के सम्बन्ध में जो बातें लिखी थीं, उन पर तुमने पूरी तौर से विचार नहीं किया; नहीं तो कदाचित् तुम यह प्रश्न न पूछते। 'बुद्धचर्या' की विशेषता यह है कि उसमें जितनी बातें हैं, वह सब त्रिपिटक या उसकी टीकाओं से ली गई हैं, लेखक ने अपनी ओर से मनगढ़न्त कुछ नहीं लिखा। और त्रिपिटक? सो तो लिख ही चुका हूँ कि भगवान बुद्ध तथा उनके शिष्यों के उपदेशों का संग्रह जो इस समय विद्यमान है और जिसे तथागत के परिनिर्वाण के पाँच सौ वर्ष बाद भिक्षु संघ ने सिहंल द्वीप में लिखा, उसे ही त्रिपिटक कहते हैं। अब क्या यह असंभव है कि इन पांच सौ वर्षों में, इस साहित्य में कुछ ऐसी बातों का समावेश हो गया हो, जिन्हें तुम इस समय 'पौराणिक गप्पें' समझते और उनसे नाक भौं सिकोड़ते हो।

तुम कहोगे; तो क्या ऐसी गप्पों से नाक भौं सिकौड़नो नहीं चाहिये? क्या ऐसी पुस्तक में जिसमें गप्पें हों आग नहीं लगा देनी चाहिये? सुनो, मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ। फरज़ करो कि तुम्हारी मां ने खीर बनाई है और तुम उसे खाने लगे हो। देखते हो कि खीर में दो सफेद कंकर पड़े हैं। अब तुम क्या करोगे? क्या यह समझ कर कि मेरी मां ने खीर बनाई है, वह कभी यह नहीं चाह सकती कि मेरा योगेन्द्र कंकर खाये, इन दो आंखों से, उन दो कंकरों को देखते हुये भी उस खीर को चट कर जाओगे? अथवा यह समझ कर कि इस खीर में दो कंकर है, उस खीर की थाली को ही दीवार से दे मारोगे? मैं समझता हूँ कि तुम दोनों में से एक भी बात न

करोगे। अधिक से अधिक यही करोगे कि उन दोनों कंकरों को निकाल दोगे और बाक़ी खीर खा लोगे। बस, बुद्धचर्या ही नहीं, सभी पुस्तकों के विषय में आदमी की यही दृष्टि रहनी चाहिये। जो कंकर मालूम दे उसे निकाल दे; जो कंकर नहीं मालूम दे उसे ग्रहण कर ले।

मैंने एक बार एक विद्यार्थी को यही बात कही थी, तो वह पूछने लगा कि हम कैसे जानें कि कौन कंकर है, कौन नहीं? मैंने कहा जिसके विषय में सन्देह हो, उसे कुछ समय के लिये छोड़ दो, जो निश्चयात्मक रूप से खीर प्रतीत हो—ग्रहण करने योग्य हो, उसे ग्रहण करो।

तो क्याबौद्धधर्म के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि जिस प्रकार एक मुसलमान चाहे उसने कुरान-मजीद को पढ़ा समझा हो, चाहे न हो—कुरान में विश्वास रखता है, ईसाई बाइबिल में विश्वास रखता है, वेद-विश्वासी हिन्दू वेद में विश्वास करता है; उसी प्रकार बौद्ध भी त्रिपिटिक के प्रत्येक अक्षर को माने?—यह एक गम्भीर प्रश्न है, जिसका उत्तर में अपने शब्दों में न दे कर भगवान बुद्ध के ही शब्दों में देता हूँ। एक बार भगवान् घूमते २ कालमा नामक क्षत्रियों के नगर में जा पहुंचे। लोगों ने उनका अभिवादन आदि करने के पश्चात् पूछा–भन्ते! यह कुछ श्रमण-ब्राह्मण हमारे यहां आते हैं, और हमें एक मार्ग का उपदेश करते हैं, और दूसरे आते हैं तो भिन्न मार्ग का। एक श्रमण-ब्राह्मण एक मत का प्रतिपादन करते हैं, तो दूसरे उसका खण्डन। हम कैसे जानें कि किसका मत सत्य है, किसका झूठ। कैसे जानें कौन सही रास्ते पर है, कौन गलत पर। भगवान् बोलेः—हे

कालाम ! सत्य की खोज आरम्भ करने पर किसी २ विषय में सन्देह उठना स्वाभाविक है। सन्देह उठने पर किसी बात को केवल इसलिये मत मानो कि उसका कहने वाला तुम्हारा कोई 'पूजनीय व्यक्ति' है; केवल इसलिये मत मानो, कि उसके कहने वाले बहुत लोग हैं, केवल इसलिये मत मानो कि वह तुम्हारे धार्मिक ग्रन्थों में लिखी हुई है। (मा पिटक संपदानेन)......(देखो बुद्धचर्या पृ० ३४०)"

यदि आज हमारे देश के लोग इस मोटी-सी बात को समझ जायँ कि हमारे धार्मिक ग्रन्थ—चाहे वे 'पौरुषेय' हों अथवा 'अपौरुषेय'—मनुष्यों के लिये हैं, न कि मनुष्य उन धार्मिक ग्रन्थों के लिये, तो हमारी बहुत-सी सामाजिक कुरीतियों की जड़ सहज ही कट जावे और बन्द हो जायें, बहुत से वे अत्याचार भी जो दिन-दहाड़े धर्म के नाम पर होते हैं।

भगवान् बुद्ध ने एक बार अपने शिष्यों को कहा कि मेरी किसी भी बात को केवल इसलिये मत मानो कि वह मेरी कही हुई है, बल्कि जिस प्रकार सुनार सोने को अपनी कसौटी पर परखता है, उसी प्रकार तुम भी मेरे प्रत्येक कथन को अपने अनुभव की कसौटी पर परखो।

तो क्या हम वेद, बाइबिल, कुरान आदि जो "इलाहमी" पुस्तकें कही जाती हैं, उनमें और साधारण पुस्तकों में कोई भेद न समझें ! न, बिलकुल नहीं। हमें कोई अधिकार नहीं कि हम किसी ग्रन्थ को भी बिना बाँचे उसके सम्बन्ध में पहले से अपनी पक्षपातपूर्ण सम्मति बना लें। हमें चाहिये—यदि हमें भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान हो—कि हम वेद, बाइबिल, कुरान, त्रिपिटक तथा बनस्पति-शास्त्र की सभी

पुस्तकों को एक मेज़ पर रखकर पढ़ें और जिस ग्रन्थ की जो बात हमें ग्राह्य लगे उसे स्वीकार करें।

कुछ लोग समझते हैं—निश्चय से ग़लत समझते हैं—कि ऐसा करना उनके अपने धार्मिक ग्रन्थों की बे-क़दरी करना है। मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन की बात याद आती है। हमारे एक अध्यापक वेदों के सम्बन्ध में कह रहे थे कि वेद ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं और हमारे पूर्वजों की रचना हैं। एक अन्य अध्यापक को पता लगा तो वे क्रुद्ध हो गये। बोले "आर्य-समाज के विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है। जो ग्रन्थ 'अपौरुषेय' हैं, उन्हें ऋषि-कृत कहा जा रहा है।" हमारे अध्यापक थे प्रत्युत्पन्नमति। तुरन्त बोले:—'एक ही तो चीज़ है जिसपर हम अभिमान कर सकते हैं कि वह हमारे ऋषियों की रचना है, और उसी को आप उनकी बनाई हुई नहीं (=अपौरुषेय) कह रहे हैं।"

यहाँ पर पौरुषेय, अपौरुषेय के दार्शनिक विवाद में पड़ना—अब इस चिट्ठी को बहुत तूल देना होगा। सो वह मैं नहीं करना चाहता। मैं यही बहुत समझूंगा कि यदि इस पत्र को पढ़ने के बाद, तुम एक बात हृदयङ्गम कर लो—भगवान् बुद्ध की शिक्षा का आरम्भ है 'मानसिक दासता के बन्धनों से मुक्ति।'

तुमने अपने पत्र में पाँच पैसे का टिकट लगाया था, चार का ही काफी होता, शेष कुशल।

तुम्हारा—

आनन्द कौसल्यायन

फलित ज्योतिष

सारनाथ
१—८—३५

प्रिय योगेन्द्र,

तुम्हारा १५--७--३५ का पत्र मिला। यह तुम्हारी इच्छा है कि तुम अपने पत्र में जितने मरज़ी प्रश्न पूछो; लेकिन मैं तो एक पत्र में अधिक से अधिक एक या दो प्रश्नों का ही उत्तर दे सकता हूँ।

हाँ, तो इस पत्र में किस प्रश्न का उत्तर दूँ? पहले का? सो तो तुम जानते ही हो कि फलित-ज्योतिष के बारे में मेरे क्या विचार हैं। मैंने उस दिन गाड़ी में तुम से इस विषय में बातचीत की भी थी। यदि सिद्धार्थ-कुमार के माता पिता ने उस समय के ब्राह्मणों से सिद्धार्थ का 'भविष्य' पूछा तो उसके लिये भगवान् बुद्ध जिम्मेदार नहीं ठहराये जा सकते। उन्होंने दीर्घनिकाय के ब्रह्मजाल-सूक्त में स्पष्ट कहा है कि लोगों के 'भविष्य' आदि बताकर जीविका कमाना 'मिथ्या जीविका' है।

जातक-कथा में एक कहानी है। सुनोगे, तो सुनो। पूर्व समय में जब वाराणसी में ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य करता था, उस समय की बात है। कुछ नगर निवासी लोगों ने एक लड़के का किसी एक गांव की लड़की से ब्याह पक्का किया। विवाह का दिन समीप आया, तो लोगोंने सोचा कि अपने ज्योतिषी से पूछ लें कि अमुक दिन शुभ है वा नहीं? ज्योतिषी से पूछा तो उसे क्रोध आया कि दिन तो पहले अपने से ही निश्चित कर लिया है, अब चले हैं मुझ से पूछने कि कौनसा दिन अच्छा है?

इसी से चिढ़ कर उसने बात बनाते हुये कहा "अरे यह दिन तो अत्यन्त अशुभ दिन है। यदि इस दिन विवाह करोगे, तब विनष्ट हो जाओगे।"

लोग उस की बात पर विश्वास करके उस दिन लड़की वालों के यहां नहीं पहुंचे। लड़की वालों ने कहा :—"ये दिन मुकर्रर करके भी नहीं आये। ऐसे आदमियों की हमें क्या परवाह"। लड़की किसी दूसरे लड़के के साथ ब्याह दी।

कुछ दिन पर लड़के वाले आये और उन्होंने लड़की मांगी। लड़की वाले बोले :—"तुम नगर-निवासी बे शरम हो। अपने आप दिन निश्चित करके भी नियमित तिथि पर नहीं आये। तुम्हें न आता देख हम ने लड़की दूसरे लड़के को दे दी"।

"हम ने ज्योतिषी से पूछा था। उसने कहा कि आज का दिन शुभ नक्षत्र नहीं है। हम इसी से नहीं आये। अब हमें लड़की दें।"

"तुम्हें न आता देख, हमने लड़की दूसरे को दे दी। अब दी हुई लड़की को कैसे वापिस लें ?"

परस्पर दोनों में झगड़ा होने लगा। एक बुद्धिमान् आदमी ने दोनों को झगड़ते देख, झगड़े का कारण जान यह गाथा (=श्लोक) कही :—

नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थोबालं उपच्चगा।
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका॥

"नक्षत्र में विश्वास रखने के कारण मूर्खों ने अपना काम बिगाड़ लिया। जिस काम को मनुष्य करना चाहता है, उसको करने का प्रयत्न करना ही उसका (शुभ) नक्षत्र है। (विचारे) तारे क्या करेंगे ?"

जो बात तारागणों के विषय में कही जा सकती है; लगभग वही बात अच्छे, बुरे स्वप्नों के मनुष्य-जीवन पर प्रभाव के विषय में भी समझो। मेरा तो विचार है कि यदि हम यह न कहकर कि अच्छे-बुरे स्वप्नों का जीवन पर प्रभाव पड़ता है, यह कहें कि अच्छे बुरे जीवन का स्वप्नों पर प्रभाव पड़ता है तो हम सत्य के अधिक समीप होंगे।

आखिर यह स्वप्न क्या बला हैं ? जो कुछ हम दिन में करते सुनते हैं, उससे हमारे विचार प्रभावित होते हैं। वे विचार दिनभर सङ्कल्प विकल्प के रूप में उठ-उठकर लीन हुआ करते हैं। जाग्रत अवस्था में तो हमारी इन्द्रियाँ तरह तरह के कार्यों में लगी रहती हैं। इस गड़बड़ी की हालत में हमारे सङ्कल्प विकल्प हमें बहुत धुँधले रूप में दिखाई देते हैं, लेकिन निद्रा अवस्था इन्द्रियों के विश्राम का समय है; इसलिये उस समय जो सङ्कल्प विकल्प उठते हैं, वह हमें स्पष्टतर भासते हैं।

अपने सङ्कल्प विकल्पों की साफ साफ अनुभूति, बस यही हमारे स्वप्न हैं।

थोड़ा सा विचार करने पर ही हमें अपने अनेक स्वप्न तो सप्ताह दो सप्ताहके भीतर की कही सुनी बातों के परिणाम दिखाई देंगे। कुछ और, पहले के मानसिक शारीरिक कर्मों का परिणाम। और अच्छी तरह विश्लेषण करने से भी जिन स्वप्नों का हम कोई ऐसा कारण न ढूंढ सकें, जिसका हमारे इस जन्म से सम्बन्ध हो, तो फिर उसको अपने पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम समझिये।

अनेक जन्मोंसे हमारे जीवन के साथ २ यह जो हमारी चित्त-धारा चली आती है, अथवा जो हमारे जीवन का केवल एक दूसरा नाम है, उसमें किसी प्रकार का, कोई भी रंग, कभी भी पड़े, उसका प्रभाव— अपने स्थूल में न सही, सूक्ष्म रूप में ही सही—बना ही रहता है। अच्छे बुरे कर्मों से मन प्रभावित होता है, और अच्छे बुरे मन से कर्म। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध चलता ही रहता है।

इसलिये यदि हम में से किसी को ऐसे स्वप्न अधिक आते हों, जो उसके लिये पछतावे और भय का कारण होते हों, तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसका मन सदोष है। उन स्वप्नोंसे बचने के लिये स्वच्छ वायु, नियमित व्यायाम, तथा पवित्र संगति—सद्ग्रन्थों की और सज्जनों की—से बढ़कर कोई उपाय नहीं।

हां, तो फलित-ज्योतिष की बात कह रहा था। (यह आवश्यक नहीं कि तुम मेरे विचारों को ज्यों का त्यों ग्रहण करो)। मैं समझता

हूँ कि 'फलित ज्योतिष' की सफलता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर है:—

१. मनुष्यकी आन्तरिक दुर्बलता

२. कभी कभी किसी भविष्यद् बाणी का सत्य निकल आना।

हम अपने और दूसरों के भविष्य के बारे में इतने अज्ञानी हैं, और उसको जानने की हमें इतनी अधिक चिन्ता है कि उसके बारे में हमें ज्यों ही कोई कुछ बताने का दावा करता है हम उसकी बात को बड़ी उत्सुकता और ध्यान से सुनने के लिये तैयार हो जाते हैं। संसार का कोई देश ऐसा नहीं, जहां के मनुष्यों को येन केन प्रकारेण अपना भविष्य जाजने की उत्सुकता न हो।

लोगों के जीवन में कोई लाख दो लाख तरह की बातें तो घटती नहीं। सभी के जीवन में, हानि, लाभ, यश, अपयश, नौकरी मिलना, नौकरी छूटना, स्वस्थ रहना, बीमार होना, जीना मरना—यही तो सब है। इन सब को मिला जुलाकर तुम ही कुछ आदमियों का 'भविष्य' कहो तो किन्हीं किन्हीं के बारे में तुम्हारी भी कोई न कोई बात अवश्य सत्य निकल अवेगी।

शास्त्ररूप से फलित ज्योतिष के सच्चे या झूठे होने का निर्णय तो तब हो कि ज्योतिषियों की बताई हुई सभी भविष्यद्वाणियों का हिसाब रक्खा जाय और उनका औसत निकाला जाय कि उनमें से कितनी सच्ची निकलीं और कितनी झूठी? लेकिन होता क्या है कि (१) कोई कोई तो भविष्य-कथन 'लड़का न लड़की' की तरह के ऐसे उभयार्थी होते हैं कि कभी झूठे हो ही नहीं सकते, (२) जो पाँच दस भविष्य-

कथन सच्चे निकलते हैं उनका तो ढिंढोरा पिट जाता है, और जो सैकड़ों झूठे निकलते हैं, उनका कोई हिसाब ही नहीं रखता।

अभी उस दिन पं० मदनमोहन जी मालवीय की अध्यक्षता में बनारस में प्रसिद्ध प्रसिद्ध ज्योतिषियों की एक सभा स्थापित हुई है। क्या ही अच्छा हो कि अपने अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के साथ यह सभा उक्त प्रकार का एक परीक्षण और सर्वसाधारण के ज्ञान के लिये उस परीक्षण के परिणाम को प्रकाशित करना भी अपने हाथ में ले ले। यह बात सत्य है कि यह न केवल फलित ज्योतिष-शास्त्र की परीक्षा होगी, बल्कि फलित ज्योतिष-शास्त्र-विदों की भी। क्या वे इसके लिये तैयार होंगे?

पत्र पिछले पत्र से भी कुछ अधिक लम्बा हो गया। अतः आज इतना ही।

तुम्हारा—
आनन्द कौसल्यायन

बुद्धिवाद

सारनाथ

१-६-३५

प्रिय योगेन्द्र,

अपनी ओर से यथाशक्ति जल्दी उत्तर देने पर भी देखता हूँ कि तुम्हारा उलाहना आ ही जाता है। अभी भी मुझे एक दो दिन आवश्यक काम है। अतः तुम्हें मेरे पत्र की प्रतीक्षा करनी होगी। तब तक के लिये मैं तुम्हें अपने एक भाई का पत्र भेजता हूँ। आप संस्कृत-व्याकरण और दर्शन-शास्त्र के पंडित हैं। आर्यसमाज के एक बिहार-प्रान्त-स्थित गुरुकुल में वर्षों शिक्षा पाई है। लगभग दो वर्ष से सिंहलद्वीप में रह कर पाली-साहित्य का गम्भीर अध्ययन करते रहे हैं। वहाँ से अभी कुछ दिन हुये लौटे हैं। आप का नाम है भिक्षु

श्रीज्ञान और यह पत्र आप ही का है। क्योंकि मुझे अभी इस पत्रका उत्तर देना है, इस लिये मैं उनका यह पत्र तो तुम्हारे पास नहीं भेज सकता; हाँ इसके आवश्यक अंशों की नक़ल कर के भेज रहा हूँ। उन्होंने लिखा है:—

"सिंहलद्वीप (सीलोन) जाने के पूर्व मैं उपनिषदों तथा वेदान्त को प्रमाण मानता था। यह समझता था कि यह अभ्रान्त तथा परम सत्य वाणी है; किन्तु अब समझता हूँ कि उपनिषदें कुछ विद्वान् व्यक्तियों के विचार हैं, जिनके औचित्यानौचित्य का बुद्धि के द्वारा विचार किया जा सकता है।

इसी प्रकार वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान मानता था तथा उन्हें संसार में सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ समझता था। किन्तु अब वेदों को मनुष्य-कृत तथा कुछ व्यक्तियों के सत्य तथा असत्य विचारोंका समूह मात्र समझता हूँ।

किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये उसके विषय में अन्यों के विचार पर ही पूर्ण निर्भर न रह उससे साक्षात् सम्पर्क के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न वाञ्छनीय है।

भारतीय बालकों को अपने मन से यह भाव निकाल देना चाहिये कि अमुक बात अमुक ऋषि ने कही है अतः उस पर शङ्का करने का अवकाश नहीं है। हम प्रायश : संस्कृत पाठशालाओं में देखते हैं कि संस्कृत-व्याकरण पढ़ने तथा पढ़ानेवाले पाणिनि, कात्यायन, तथा पतञ्जलि को एक ऐसे स्थान पर पहुँचा हुआ समझते हैं कि जहाँ किसी शंका का स्थान नहीं है। वे यह सोचने का साहस नहीं करते कि

पाणिनि की व्याकरण-निर्माण-पद्धति में अमुक दोष है तो क्यों है ? या पतञ्जलि तथा कात्यायन ने जो पाणिनीय व्याकरण का ऐसा तात्पर्य समझ रक्खा है सो कैसे ठीक है ?

मेरे विचार में भगवान् बुद्ध बुद्धिवाद के अग्रगण्य आचार्य थे। उन्होंने अंगुत्तर निकाय में कहा है कि—"किसी बात को इसलिये मत मानो कि वह किसी ग्रन्थ विशेष में लिखी है या किसी व्यक्ति विशेष ने कही है। किन्तु इसलिये मानो कि तुम्हारा हृदय इस बात को स्वीकार करता है।"

हम देखते हैं कि आज भारत को बुद्धिवाद की बड़ी आवश्यकता है। जो वेद के भक्त हैं वे समझते हैं कि वेदों में जो कुछ लिखा है उसे आँख मूँद कर मान लेना उचित है। यदि वेद में लिखा कि "ईश्वर हजार सिर वाला, हजार आँखों वाला, हजार पैरों वाला है" तो उस बात को आँख मूँद कर "बाबावाक्यं प्रमाणम्" कहकर मान लेना चाहिये। आपस्तम्बधर्मसूत्र में लिखा है कि शूद्र वेद पढ़े तो उसकी जीभ काट ली जाय। शंकराचार्य ने शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का प्रतिवाद किया है। अतः आँख मूँद कर बिना सोचे— बेचारे शूद्रों के वेदाध्ययन का अधिकार छीन लिया जाये।

चूँकि हमारे धर्मशास्त्रों ने चमार आदि जातियों को अछूत बतलाया है इसलिये चाहे हमारा देश रसातल में क्यों न चला जावे किन्तु हम चमार आदि जातियों को स्पर्श नहीं कर सकते। काशी के एक धुरन्धर पंडित राजेश्वर शास्त्री महात्मा गान्धी के पास पहुँचे थे तथा

उन्हें सूचना दी थी कि वह मीमांसादर्शन के प्रमाण से चमार आदि जातियों की अस्पृश्यता का समर्थन करेंगे।

बहुत कालसे शब्द प्रमाणवादने हमारे देशकी भोली भाली जनता की बुद्धि का पूर्ण विकास रोक रक्खा है। जनता के मन में यह बात समाई हुई है कि जो कुछ वेदों में लिखा है वह ठीक ही है, जो कुछ हमारे धर्मशास्त्रों तथा धर्मसूत्रोंमें लिखा है हमें उसे बिना चूँ चरा किये उसी तरह मान लेना चाहिये जैसे कि एक स्वामि-भक्त घोड़ा अपने स्वामी की बात को बिना कुछ ननु-न च किये मान लेता है। आर्यसमाज, जो कि रूढ़िवाद का प्रबल विरोधी समझा जाता था वह भी रूढ़िवाद का गुलाम बन गया है।

स्वामी दयानन्द वा किसी भी महात्मा ने वही बात कही है जिसे कि उनके हृदय ने सत्य स्वीकार किया। हमें भी चाहिए कि उन्हीं महात्माओं के समान जो बात हमारे हृदय को स्वीकृत हो वही बात मानें तथा कहें।

आप कहेंगे कि सभी की बुद्धि एक समान नहीं होती। अगर सभी अपनी मनमानी करने लगें तो बहुत लोग बुरे मार्ग में चले जायँगे। हम पूछते हैं कि यदि आप अपनी बुद्धि से काम लेना छोड़कर किसी महात्मा के कथनानुसार चलना चाहते हैं तो महात्मा भी बहुत हैं और उनके विचार बहुत-सी बातों में परस्पर विभिन्न हैं। आप किसकी बात को मानेंगे ? अद्वैतवाद के प्रवर्त्तक शंकराचार्य एक असाधारण विद्वान् और महात्मा थे। वे कहते हैं कि शूद्र को वेद के पढ़ने का अधिकार नहीं है। स्वामी दयानन्द भी एक असाधारण विद्वान् और महात्मा

थे। वे कहते हैं कि शूद्र वेद को पढ़ सकता है। शंकराचार्य अद्वैतवादी थे। स्वामी दयानन्द द्वैतवादी थे। और दोनों ही एक से एक बढ़ कर महात्मा थे। अब आप यदि अपनी बुद्धि से विचार करना छोड़ चुपचाप महात्माओं की बात मानें तो किस महात्मा की बात मानेंगे ?

आप कहेंगे स्वामी दयानन्द तथा हमारे मनुस्मृति आदि धर्म-शास्त्र कहते हैं कि जब महात्माओं के वचनों में परस्पर विरोध हो तो हम जो वेदों में लिखा हो उसे मानें। तो वेदों के अर्थ में भी बड़ा विवाद है। सायणाचार्य दूसरा ही अर्थ करते हैं. स्वामी दयानन्द दूसरा ही। फिर कौन अर्थ ठीक है, इसे जानने के लिये अन्त में आप को अपनी बुद्धि की ही शरण में आना पड़ेगा। और जो वेद में लिखा है, वही ठीक है, यह आपने कैसे जाना ? आप कहेंगे कि हमारे दादा परदादा ऐसा ही कहते चले आ रहे हैं तो ऐसे ईसाई, मुसलमान, सिक्ख आदि सभी सम्प्रदाय अपने अपने मान्य धर्म-ग्रन्थों के विषय में कहते हैं। तब फिर सत्य की खोज करने वाला आदमी कैसे समझ सकेगा कि कौन सत्य है और कौन असत्य ? इसलिए आपको "वेद ही सब से बढ़कर प्रामाणिक पुस्तक है" इसे सिद्ध करने के लिए भी बुद्धि की ही शरण लेनी पड़ेगी। और जो वेद में लिखा है, उसकी सच्चाई को अपनी बुद्धि के द्वारा ही परखना होगा।

और लोग जो यह कहते हैं कि "हमारी बुद्धि वैसी नहीं है कि हम उसके भरोसे सचाई का निर्णय कर सकें" तो यह तो अपने ही ऊपर अविश्वास करना हुआ। जब हमको और आपको अपनी बुद्धि

ही पर विश्वास नहीं है तो फिर गीता के शब्दों में यही समझिए कि "संशयात्मा विनश्यति"। ज़रा सोचिए, यदि हम अपनी आंख पर विश्वास करना छोड़ दें तब हम एक डग भी आगे नहीं चल सकते। हम जमीन को देखकर सोचेंगे कि क्या जाने कहीं यह समुद्र हो। जिस प्रकार आंख, नाक, कान आदि बाहरी इन्द्रियों पर विश्वास न करने से हमारे बाहर के काम नहीं चल सकते वैसे ही यदि हम अपनी भीतरी इन्द्रिय बुद्धि पर विश्वास न करें तो हमारा भीतर का काम नहीं चल सकता। सच्चाई को नहीं पा सकते। इसलिए किसी भी बात को इसलिए सत्य मत मानिये कि क्योंकि कबीर साहब कहते हैं, स्वामी दयानन्द कहते हैं, भगवान् बुद्ध कहते हैं, मुहम्मद साहब कहते हैं, क्राइस्ट कहते हैं, या वेदों, कुरान तथा बाइबिल में लिखी है। सभी बातों को सुन और जान कर अपनी बुद्धि की कसौटी पर रखिए कि क्या उचित है और क्या अनुचित? क्या सत्य है और क्या असत्य?

"हमारी बुद्धि सत्य और असत्य का निर्णय नहीं कर सकती अतः हमें दूसरे के दिमाग पर भरोसा करना चाहिए" ऐसा सोचकर हमारे बहुत से नवयुवकों ने अपनी बुद्धि से काम लेना छोड़ दिया है। जिस प्रकार किसी यन्त्र को यों ही बेकार छोड़ देने तथा उसकी सफाई आदि न करने से उसमें ज़ंग लग जाता है, वैसे ही उनकी विचार-शक्ति नष्ट हो गई है। आजकल हमारे पण्डित पाठशालाओं में लड़कों के दिमाग में ऐसी बातें और ऐसा संस्कार भरा करते हैं, जैसे—'तुम तुच्छ बुद्धिवाले हो, तुम ऋषि महर्षियों की बराबरी नहीं कर सकते, इसलिए ऋषि महर्षियों ने जो कुछ कहा है उसे बिना सोचे समझे

तुम्हें मान लेना चाहिए ।" बच्चों के दिमाग में इस प्रकार का संस्कार हमेशा डालते रहने से उनकी बुद्धि का विकास रुक जाता है। वे समझते हैं कि हम चाहे जितनी भी कोशिश करें, ऋषि महर्षि नहीं बन सकते। अथवा ऋषि महर्षियों की बातों में शङ्का-समालोचना या उनका खन्डन करना पाप है। इस दिमागी गुलामी के फलस्वरूप हमारे देश के युवकों के मस्तिष्क की मौलिक शक्ति का ह्रास हो रहा है।"

आशा है इस चिट्ठी को तुम अपने उस मित्र को भी दिखाओगे, जिसके बारे में तुमने एक बार मुझे लिखा था।

तुम्हारा
आनन्द कौसल्यायन

हमारी ज़िम्मेवारी

कलकत्ता
२--१०--३५

प्रिय योगेन्द्र,

उस मनुष्यको जो अपने तो जीते रहने के लिए, और अधिक से अधिक काल तक जीते रहने के लिए, इतने हाथ पैर छटपटाये; कोई अधिकार नहीं कि वह किसी छोटे से छोटे प्राणी की भी हिंसा करे! किन्तु क्या किया जाये? हमारे अन्दरका पशु हमसे यह कुकर्म करा ही देता है।

जब से मनुष्य-समाजने कुछ उन्नति करनी शुरू की, तभीसे इस बातका प्रयत्न बराबर होता रहा है कि हम अपने से निर्बल, तथा असहाय प्राणियोंके साथ अधिकसे अधिक दया का बर्ताव करना सीखें।

इस देशमें जिस समय हृदय विदारक क्रूरताओं के केन्द्र, लम्बे चौड़े यज्ञ हुआ करते थे उस समय उन यज्ञोंके खिलाफ एक बड़ा भारी विद्रोह शुरू हुआ। हमारे उपनिषदों में इस विद्रोह की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देती है। लगभग इसी समय भगवान् बुद्ध ने अपने करुणार्द्र हृदयसे ऐसी करुणा की धारा बहाई जिससे न जाने कितने लोगों की हिंसा-वृत्ति छूट गई।

जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामी ने किसी से कम अहिंसा प्रचार नहीं किया। इस प्रकार सभी समयों में, कभी किसी सन्त महात्मा की ओर से, कभी किसी धार्मिक सुधारक की ओर से, कोई न कोई ऐसा प्रयत्न होता ही रहा है जिससे हम मनुष्यों में हिंसा-वृत्ति की जगह अहिंसा-वृत्ति की वृद्धि हो।

मैं आज ही श्री पण्डित रामचन्द्र को देख कर आया हूँ। उनके आमरण-व्रत का आज सत्ताइसवां दिन है। मैं काफी देर तक उनके पास बैठा रहा और लगभग बिलकुल मौन—क्या ऐसे अवसर पर बात-चीत करने की अपेक्षा मौन रहना लाख दर्जे अच्छा नहीं होता? शर्माजी का विश्वास है कि उनका आत्मोत्सर्ग उन हिन्दुओं के हृदय को पलट देगा जिनके कारण काली घाट के काली-मन्दिर में इतने निरीह पशुओं की बलि चढ़ती है।

मनुष्य जब किसी उद्देश की पूर्ति के लिए अपनी जान तक निछावर करने के लिए तैयार हो जाये तो फिर कम से कम उस आदमी की लगन में सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी से मैं तुम्हें शर्माजी

के इस आमरण व्रत और इसी प्रकार के अन्य व्रतों के सम्बन्ध में ये जो दो शब्द लिख रहा हूँ वह अत्यन्त डरते डरते।

मेरी सम्मति में प्रत्येक व्यक्ति को यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि अपने व्यक्तिगत आचरण को जैसा चाहे बनाये और उसे यह भी अधिकार है कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचारों का प्रचार करे। लेकिन चाहे आदमी कितना ही अधिक नेकनीयत क्यों न हो मैं इसे उचित नहीं समझता कि वह सीधे या टेढ़े मेढ़े तरीकों से दूसरे आदमियों से ऐसे काम कराने की कोशिश करे जिसे वे स्वेच्छापूर्वक न करना चाहते हों।

यह तो तुम जानते ही हो कि मेरे दिल में महात्मा गांधी की कितनी इज्जत है। लेकिन फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि जब से महात्मा जी ने न केवल अपने मित्रों, सम्बन्धियों बल्कि सारे के सारे देश को प्रभावित करने के लिए अनशन व्रत करने आरम्भ किये तब से देश को समाज-सुधार का एक अनोखा तरीका हाथ लग गया। लोगों ने यह तो समझा नहीं कि महात्मा जी को उनके व्रतों द्वारा जो सफलता मिली वह उनके जीवन भर की राष्ट्रीय सेवाओं का परिणाम थी। वह उसको केवल व्रतों का ही परिणाम समझने लगे।

महात्मा जी को व्रतों द्वारा समाज-सुधार के कार्य में जो सफलता मिली उसके बावजूद भी यह कहना कठिन है कि व्रतों द्वारा समाज-सुधार करने कराने का तरीका निर्दोष है।

भगवान् बुद्ध से एक बार किसी ब्राह्मण ने पूछा "क्या आपके सभी शिष्य आपके उपदेश के अनुसार चलते हैं?"

"कुछ चलते हैं। कुछ नहीं चलते।"

"तो यह कैसी बात है, कि आपके शिष्य भी आपके उपदेशानुसार नहीं चलते?"

बुद्ध बोले "हे ब्राह्मण! क्या लोग तुमसे कभी राज-गृह जाने का मार्ग पूछते हैं?" "गौतम! पूछते हैं।"

"तो क्या सभी राज-गृह जाते है?"

"कुछ जाते हैं। कुछ नहीं जाते। मेरा काम केवल मार्ग बता देना है।"

"इसी प्रकार हे ब्राह्मण! मेरा भी काम केवल उपदेश कर देना है; कुछ उसके अनुसार चलते है कुछ नहीं चलते।"

जब सदाचार की मूर्ति भगवान् बुद्ध ने भी किसी के सदाचरण अथवा दुराचरण की जिम्मेदारी अपने सिर नहीं ली तो कौन होते हैं हम वैसी जिम्मेदारी अपने सिर ले सकने वाले। हो सकता है कि मैं सर्वथा गलती पर होऊँ। लेकिन मुझे तो कुछ २ ऐसा मालूम देता है जिस प्रकार यह समझना कि दूसरे मनुष्यों का सदाचरण हमारे ही चरित्र की पवित्रता का परिणाम है, केवल हमारी अहमन्यता है; उसी प्रकार यह समझना भी कि दूसरे मनुष्यों का दुराचरण भी हमारे ही चरित्र की अपवित्रता का परिणाम है, हमारी सूक्ष्म अहमन्यता है। क्या हमारे लिए यह काफी काम नहीं कि हम दिन रात अपने चरित्र की शोध में लगे रहें? क्या यह काफी बड़ी जिम्मेदारी नहीं कि हम अपने प्रत्येक सदाचरण और दुराचरण के

लिये ज़िम्मेदार ठहराये जायें ? यदि हां, तो फिर मुल्लाजी क्यों नाहक शहर की चिन्ता में सूख-सूख कर लकड़ी हुआ करते हैं ?

इस प्रकार फिलासफी छांटना तो सहज है लेकिन किसी सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने स्वास्थ्य तथा जान को खतरे में डालना महान कठिन कार्य। पण्डित रामचन्द्र शर्मा ने अपनी आस्था के कारण इस मार्ग को ग्रहण किया है। अतः इस समय तो यही प्रार्थना है किसी तरह कालीघाट मन्दिर में होने वाली पशुबलि के लिये जो लोग जिम्मेदार हैं उनके मन बदल जायें ! और यदि दुर्भाग्य से निकट भविष्य में ऐसा होने को नहीं है तो फिर शर्माजी को ही यह समझ आ जाये कि कदाचित् जिस उद्देश्य के लिए वे मरना चाहते हैं उसी उद्देश्य की पूर्ति उनके जीते रहने से और भी अधिक हो सकती है।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन

प्रश्नोत्तर

सारनाथ

प्रिय योगेन्द्र 30-10-35

तुम्हारी २-१०-३५ की चिट्ठी मिली और उसके साथ १४ प्रश्न भी। मैं समझता हूँ कि तुमने जो प्रश्न पूछे हैं उनमें से कुछ प्रश्नों का उत्तर धर्मदूत के पत्रों में आ चुका है और जिन प्रश्नों का उत्तर नहीं आया, उनका आगामी अंकों में कभी न कभी आ जायगा। लेकिन शायद तुम तब तक प्रतीक्षा करना न चाहो, इसलिए संक्षिप्त ही सही, उनके कुछ उत्तर अभी दिये देता हूँ।

प्रश्न—निर्वाण क्या है? अभाव या सद्भाव?

उत्तर—निर्वाण अभाव है: राग, द्वेष, मोह आदि चित्त की सभी कलुषित वृत्तियों का।

प्रश्न—यदि निर्वाण शाश्वत है, शुद्ध, शान्त अथवा आनन्दमय पद है, और उसकी सत्ता है, तो वह अभाव रूप नहीं हो सकता। यदि सद्भाव रूप है, तो वह क्या है, किस प्रकार का है, कैसा है?

उत्तर—प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न—यदि वह भाव और अभाव दोनो ही नहीं है अर्थात् न सत है न असत् तो उसकी अनुभूति कैसे होती है? उसका नाम-करण किस आधार पर है?

उत्तर—राग-अग्नि, द्वेष-अग्नि और मोह-अग्नि के दाह की हमें निरन्तर अनुभूति होती है, इनका बुझ जाना ही निर्वाण है। दीपक बुझ गया या दीपक निर्वाण को प्राप्त हो गया एक ही बात है।

प्रश्न—आत्मा कोई वस्तु है या नहीं? यदि कोई वस्तु है तो क्या?

उत्तर—मनुष्य ने अपनी निरन्तर जिन्दा रहने की तृष्णा के वशीभूत होकर सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्ता की कल्पना की है, जिसे वह अपने अज्ञानवश समझता है कि निरन्तर बनी रहती है, उसी काल्पनिक सत्ता का नाम है आत्मा।

प्रश्न—सम्यक-सम्बोधि लाभ करने पर भगवान् ने जो उदान (=उल्लास वाक्य) कहा था, उसमें "गहकारक गवेसंतो" "गहकारक दिट्ठोसि" अर्थात् "गृहकारक को ढूँढ़ता रहा" या "गृहकारक दिखाई दिया"—इनमें ढूँढ़नेवाला वा दिखाई देने वाला कौन है?

गृहकार (तृष्णा) और गृहकार का गवेषक वा द्रष्टा दो पदार्थ होने चाहिएँ न ?

उत्तर—"मैं गृहकारक को ढूँढ़ता रहा" इत्यादि प्रयोगों की केवल व्यवहारिक सार्थकता है। तात्विक दृष्टि से 'न किसी ने खोजा, न किसी ने पाया'।

प्रश्न—उसी उदान में "पुन गेहं न काहसि" पद है। उसमें गेह शब्द का तात्पर्य क्या है ? यदि "गेह" का अर्थ 'देह' है, तो 'गेहवासी' 'गेह स्वामी' अथवा देही कौन है ?

उत्तर—गेह का अर्थ "गेहवासी रहित गेह" नहीं। देह और देही की कल्पना मान्य न होने से यह प्रश्न अनुचित है। यहाँ केवल तृष्णा को ही सम्बोधन करके कहा है कि हे तृष्णे ! अब तू जन्म मरण का कारण न हो सकेगी।

प्रश्न—उसी उदान में अन्तिम पद "विसंखार गतं चित्तम् तण्हानं खयमज्झगा" में चित्त शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—"चित्त" शब्द का अर्थ चित्त ही है। सम्भव हैं कि आत्मवादी सज्जन उसका अर्थ आत्मा करना चाहें। हमें आत्मा शब्द से विरोध नहीं, लेकिन यह स्पष्ट रहे कि बौद्ध धर्म में "मन एव आत्मा —मन ही आत्मा—है।

प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् परलोक को कौन जाता है ? जन्म किसका होता है ? अनेक जन्मों के चक्र में कौन भटकता है ? तृष्णा किसे सताती है ? कर्म फल कौन भोगता है ? सुख दुःख की अनुभूति किसे होती है ? सत् असत् का ज्ञान कौन करता है ?

उत्तर—ठीक इसी तरह का प्रश्न भगवान बुद्ध से पूछा गया था। "भन्ते ! स्पर्श करता है—स्पर्श करता है—कहते हैं; कौन स्पर्श करता है ?" उत्तर मिला "यह प्रश्न ही गलत है कि कौन स्पर्श करता है ? आयतनों (पाँच इन्द्रियाँ और एक मन) के होने पर स्पर्श होता है। स्पर्श के होने पर वेदना (Sensation) होती है, वेदना के होने पर तृष्णा होती है—इत्यादि" ठीक इसी प्रकार यद्यपि हम प्रतिदिन की भाषा में, भटकते हैं, आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, लेकिन तात्त्विक दृष्टि से "भटकता है" नहीं होता, किन्तु "भटकना" होता है। यह बात बौद्ध-धर्म के विशेष सिद्धान्त प्रतीत्य-समुत्पाद को समझे बिना कुछ अस्पष्ट प्रतीत होगी।

प्रश्न—कर्म का फल किस प्रकार होता है ? क्यों होता है ? कर्म फल का भोग किस प्रकार धावमान रहता है ? देहध्वंस के बाद जन्मान्तर में भी कर्मफल का भोग अनिवार्य क्यों रहता है ? कर्म फल भोग से छुटकारा पाने का क्या उपाय है ?

उत्तर—किसी भी अच्छे या बुरे कर्म करने के लिए मन में जिस परिवर्तन के लाने की आवश्यकता होती है, वह मानसिक परिवर्तन ही उस कर्म का वास्तविक फल भोग है। परिवर्तित मन अपने अनुकूल परिस्थिति को स्वयं अपनी ओर आकर्षित करता है। ऐसा क्यों होता है ? यह हम नहीं जानते हैं कि आग गर्म क्यों होती है ? न हम यही जानते हैं कि पानी ठन्डा क्यों होता है ? लेकिन हम जानते हैं कि आग गर्म होती है, पानी ठण्डा होता है।

चित-सन्तान का संसरण कर्मों के संस्कार और तदनुसार उनके भोग-फल का वाहक है। प्रत्येक देह ध्वंस के पूर्व या पश्चात् प्रत्येक कर्म फल का भोग अनिवार्य नहीं है। जब हम कहते हैं कि हमारे सभी भोग हमारे अपने कर्मों के परिणाम हैं तो जल्दी में कुछ भाई उसका यह अर्थ लगा लेते हैं कि हम जितने भी कर्म करते हैं, उनको हमें भोगना ही पड़ता है। ऐसी बात नहीं है। हमारे अनेक कर्म अनेक कारणोंसे 'बांझ' हो जाते हैं; फल नहीं देते हैं। कर्म—फल—भोगसे छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है शील (=सदाचारमय जीवन) समाधि (=कुशल कर्मों में चित्त की एकाग्रता) प्रज्ञा (=जो जैसा है उसको वैसा जान लेना) द्वारा अविद्या और तृष्णा का सम्पूर्ण नाश।

प्रश्न—यदि कर्म-फल का भोग अनिवार्य है, तो किन किन कर्मों का क्या २ फल होता है?

उत्तर—ऊपर कह चुके हैं कि सभी कर्म फलों का भोग अनिवार्य नहीं है। कर्मों के फल की दृष्टि से—किन कर्मों का फल मिलता है, किनका नहीं मिलता; जिनका मिलता है उनका कब और किस क्रम से मिलता है—कर्मों के अनेक भेद किये हैं। वे विसुद्धि मग्ग सदृश किसी भी बौद्धग्रन्थ में उदाहरण सहित देखे जा सकते हैं। यहाँ स्थानाभाव से लिखने में असमर्थ हूँ।

प्रश्न—क्या कर्म फलों का कोई दाता या विधाता भी है?

उत्तर—कर्म स्वयं ही अपने फल के दाता हैं।

प्रश्न—मृत्यु क्या वस्तु है? मृत्यु किस क्रिया का नाम है? क्या होने से मृत्यु नाम दिया जाता है?

उत्तर—"क्या है भिक्षुओ! मरण? जो उस प्राणी-निकाय (योनि) से च्युत होना = च्यवन होना = भेद = अन्तर्ध्यान = मृत्यु = मरण = काल करना = (पाँच) स्कन्धों (रूप आदि) की जुदाई; कलेवर (शरीर) का फेंकना (निक्षेप) यह है भिक्षुओ! मरण"। (महासतिपट्ठान सुत्तन्त)

प्रश्न—निर्वाण, परिनिर्वाण और महापरिनिर्वाण शब्दों के अर्थ में क्या भेद है? क्या तारतम्य है?

उत्तर—साधारणतया तीनों शब्द पर्यायवाची हैं। कभी २ भेद भी किया जाता है। शरीर रहते अर्हत् (जीवन-मुक्त) को निर्वाण प्राप्त और शरीर छूट जाने पर परिनिर्वाण-प्राप्त कहते हैं। भगवान् बुद्ध के लिए विशेष आदर प्रदर्शित करना अभिष्ट है इसलिए उनके परिनिर्वाण को महापरिनिर्वाण कहते हैं।

देखता हूँ कि तुम्हारा एक प्रश्न अभी भी बाकी रह गया। इसका उत्तर फिर कभी सही।

तुम्हारा

आनन्द कौशल्यायन

अहिंसा और मांसाहार

बरेली

प्रिय योगेन्द्र, १७-११-३५

आज तक जितने सज्जनों ने मुझसे बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी चर्चा की उनमें शायद ही किसी ने यह शंका न की हो कि एक ओर तो बौद्ध लोग "अहिंसा परमो धर्मः" को मानते हैं और दूसरी ओर सुना जाता है कि वे मछली-मांस-भक्षण कर लेते हैं। इसलिए जिस उग्र रूप में तुमने यह प्रश्न पूछा उस उग्र रूप को देख कर भी मुझे तनिक आश्चर्य या रोष नहीं हुआ।

अहिंसा और मांसाहार का विषय अत्यन्त उलझा हुआ है। मांसाहार के पक्षपाती और विरोधी दोनों इस पर दो दृष्टियों से विचार

करते हैं। पक्षपातियों का कहना है कि मांसाहार बल-वर्धक है, विरोधियों का कहना है कि इसकी अपेक्षा कहीं अधिक रोग-वर्धक है। पक्षपातियों का कहना है कि सभी भोजनों में हिंसा अनिवार्य होने से मांसाहार में हिंसा का दोष नहीं; विरोधियों का कहना है कि मांसाहार जीव-हत्या का कारण होने से पापमय भोजन है। उसी मांसाहार के विषय पर अपनी स्थिर सम्मति बनाने के लिए, दोनों ही दृष्टियों पर विचार होना आवश्यक है।

इन दोनों दृष्टियों में से किसी के बारे में भी कुछ कहने से पहले एक बात कहना चाहता हूँ और वह यह कि अनेक लोगों को एक बात में अब अपनी ज़िद छोड़ देनी चाहिए। उन्हें यह मान लेना चाहिए कि जिस प्रकार इस समय संसार के लगभग सभी देशों में मांसाहारी और शाकाहारी दोनों प्रकार के लोग हैं, इस प्रकार सभी समयों में रहते चले आये हैं। जिन लोगों का यह ख्याल है कि प्राचीन वैदिक काल में यहाँ केवल शाकाहारी ही शाकाहारी बसते थे, अथवा प्राचीन वैदिक काल के साहित्य में मांसाहार का उल्लेख नहीं है, मैं समझता हूँ कि वे इतिहास के साथ बड़ी जबरदस्ती करते हैं। मैंने जो थोड़ा बहुत प्राचीन साहित्य देखा है उसमें:—क्या वैदिक साहित्य, क्या जैन साहित्य और क्या बौद्ध साहित्य—किसी साहित्य को भी मांसाहार के उल्लेखों से अछूता नहीं पाया। इसलिए यदि किसी की यह सम्मति हो कि उसके पूर्वज मांसाहार के विषय में ग़लती पर थे, तो यह बात समझ में आ जाती है, लेकिन चरक, सुश्रुत जैसे वैद्यक के ग्रन्थों में लगभग सभी मांसों के गुण दोष लिखे रहने पर भी यदि कोई यही कहने की ज़िद

करे कि उसके पूर्वजों ने बिना इन मांसों को खाये ही, यों ही इनके गुण-दोष लिख दिए तो उसे मालूम होना चाहिए कि वह अपने पूर्वजों पर एक और संगीन इल्ज़ाम लगा रहा है।

जहाँ तक शरीर पर मांसाहार के प्रभाव का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ कि मांसाहार और शाकाहार का वर्गीकरण निरर्थक है। आहार आहार है और प्रत्येक आहार का देश, काल और व्यक्ति के भेद से भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। हम भारतवासी अपने चौके चूल्हे का जितना विचार करते हैं, कच्चे और पक्के भोजन का जितना विचार करते हैं यदि उसका एक अंश भी खाद्य-सामग्री के गुण-दोष का विचार करें, और विचार करें ज़रा वैज्ञानिक ढङ्ग से, तो हमारा बड़ा कल्याण हो। गङ्गा के विज्ञानांक में प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ने आहार के बारे में एक अत्यन्त उपयोगी लेख लिखा है। उसमें उन्होंने शाकाहार और मांसाहार का भेद न करके यह दिखाया है कि सभी आहारों का मनुष्य के शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है! लेख मांसाहारियों और शाकाहारियों दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। हमें चाहिए कि हम उस तरह के ग्रन्थों को पढ़ कर अपने आपको इस बात से अवगत करें कि भिन्न भिन्न आहारों का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है, और अपने भोजन के प्रकार तथा मात्रा के चुनाव में अपने इस ज्ञान का उपयोग करें।

रही हिंसा अहिंसा की बात। संसार में कई धर्मों के अनुयायी स्पष्ट रूप से ऐसा कहते हैं कि परमात्मा ने पशुओं को आदमी के उपयोग के लिये बनाया है और उसे इख्तियार है कि चाहे उनको

जीवित रख कर उनका उपयोग करे, चाहे मार कर। बुद्ध के धर्म में इस बात की तनिक भी गुन्जाइश नहीं कि मनुष्य चाहे अपने लिए, चाहे और किसी के लिए, किसी छोटे से छोटे प्राणी की भी हत्या करे। बुद्ध के पांच शीलों में प्रथम शील है 'पाणातिपाता वेरमणि सिक्खापदं समादियामि'—अर्थात् मैं जीव-हिंसा (प्राणातिपात) से दूर रहने का व्रत ग्रहण करता हूँ।

बुद्ध ने कहा है—

सब्बे तसन्ति दंडस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य, न घातये॥

अर्थ—दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भयभीत होते हैं, औरों को भी अपने ही जैसा समझ न उनका हनन करे, न घात करे।

प्राण-हिंसा करने वाला उस प्राणी की जिसकी वह हत्या करता है उन्नति में तो बाधक होता ही है, लेकिन सबसे अधिक वह अपनी उन्नति में बाधक होता है। इसलिए बुद्ध की शिक्षा में चाहे आहार के लिये, चाहे शिकार के लिए, चाहे किसी रक्त-पायिनी देवी की प्रसन्नता के लिए प्राण हिंसा की तनिक गुन्जाइश नहीं।

तुम पूछोगे तो तब किसी भी बुद्ध-धर्मावलम्बी को मांस नहीं ग्रहण करना चाहिए और जो भिक्षु ग्रहण करते हैं वे स्पष्ट रूप से बुद्ध की शिक्षा के विरुद्ध जाते हैं? हाँ, और नहीं। हां उस हालत में जब कि वह जिस माँस को ग्रहण करते हैं वह त्रिकोटि परिशुद्ध न हो, और नहीं उस हालत में जब कि वह त्रिकोटि—परिशुद्ध हो।

यह त्रिकोटि-परिशुद्ध-मांस क्या बला है ? इसे समझने के लिए तुम्हें अपने आपको बुद्ध के युग में ले जाना होगा। बुद्ध के समय और उनसे पहले भारतीय समाज आज की अपेक्षा कम मांसाहारी न था, अधिक ही था। वैसे समाज में भगवान बुद्ध के भिक्षु अपने शास्ता के उपदेश के अनुसार घर २ से भिक्षा मांगकर खाते थे। अब क्या उन भिक्षुओं के लिये उस दिन—तथा कुछ देशों में आज भी सम्भव था कि वे भिक्षा मांग कर गुजारा करें और हर समय शाकाहारी ही शाकाहारी रह सकें ? भगवान् बुद्ध ने सारे समाज को जीव हिंसा से विरत रहने का उपदेश दिया, लेकिन जब तक और जो समाज किसी भी कारण से उनके उपदेश के अनुसार आचरण नहीं करता, यदि भिक्षु को वैसे समाज में भिक्षाटन के लिये जाना पड़े तो, वैसी हालत में भगवान् ने भिक्षु के लिए तीन बातें कहीं हैं:—

(१) यदि भिक्षु किसी ऐसे मांस को ग्रहण कर ले, जो उसने देखा हो कि उसके लिए तैयार किया गया है, तो वह दोषी है। (२) यदि भिक्षु किसी ऐसे मांस को ग्रहण कर ले, जो उसने सुना हो कि उसके लिए तैयार किया गया है, तो वह दोषी है। (३) यदि भिक्षु किसी ऐसे मांस को ग्रहण कर ले' जिसके बारे में उसके मन में संदेह हो कि उसके लिये तैयार किया गया है, तो वह दोषी है।

लेकिन यदि वह किसी अपरिचित गांव में भिक्षा के लिए किसी गृहस्थ के दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ है, और गृहस्थ ने उसके पात्र में मांस डाल दिया है, तथा भिक्षु ने उसे खा लिया है, तो जहां तक

हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध है, वह भिक्षु किसी भी प्रकार के दोष का भागी नहीं।

आकाश में दो पक्षी लड़ रहे हैं। बड़े ने छोटे पक्षी को मारकर ज़मीन पर फेंक दिया। किसी ने उसे उठाकर खा लिया। उठाकर खा लेने वाले व्यक्ति पर पक्षी को मारने का इल्जाम न लगेगा। यही बात त्रिकोटि—परिशुद्ध (तीनों ओर से शुद्ध) मछली मांस के बारे में समझो।

यह तुम जानते ही हो कि मैं मांस के स्वाद अथवा अस्वाद से बिल्कुल अपरिचित हूँ। यहां जो कुछ लिखा है वह केवल इस उद्देश्य से कि तुम मांस-भक्षण के बारे में भिक्षुओं की दृष्टि समझ जाओ और जब कोई तुमसे भगवान् बुद्ध के सूकर-मद्दव (सूअर का मांस) खा लिए रहने की सम्भावना के बारे में पूछे, तब तुम व्यर्थ इतने लज्जित न हो। यह बात हमें स्वीकार कर लेनी चाहिए कि बुद्ध-धर्म और शाकाहार-वाद (Vegetarianism) पर्यायी-वाची शब्द नहीं।

अहिंसाधर्म मनुष्य का उच्चतम धर्म है। लेकिन उसका अर्थ है मन, वाणी, कर्म से किसी को हिंसा न पहुँचाना। पानी छान कर पीने और शाक-सब्जी खाने मात्र से अहिंसा धर्म का पालन नहीं होता।

जाणन हारया जाण्या वाणिया तेरी बाण
अनछाना लोहू पिवे, पाणि पीवे छान

अरे बनिये ? जानने वाले ने तेरी आदत को जान लिया। तू पानी तो छान छान कर पीता है, लेकिन (ग़रीबों के) रक्त को बिना छाने ही पी जाता है।

मैं कल की तूफान-मेल से पंजाब जा रहा हूँ। शीघ्र लौटूंगा।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्लायन

परिशिष्ट

एक अधिकारी जैन विद्वान् लिखते हैं—

"धर्म-दूत के पौष पूर्णिमा (१-१०) के अंक में भिक्षु के लिये जो त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस का विधान किया गया है उसके सम्बन्ध में यह विचार है कि यद्यपि साधु को उस विशेष पशु के वध का साक्षात (direct) दोष न लगेगा जिसके वध के लिये उसने मन-वचन-काय से अनुमति नहीं दी है और जिसका मांस उसने ग्रहण किया है; लेकिन वह मांसाहार को अनुबल देने के दोष से मुक्त नहीं हो सकता। वह जानता है कि मांस की प्राप्ति के लिये बहुधा पशुओं का घात होता है (क्वचित् ही मृतक पशु का मांस काम में आता है) और यदि वह साधु होकर मांस ग्रहण करेगा तो गृहस्थ अवश्य उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा—बाजार से खरीदेगा। बाजार के बेचनेवाले खरीदनेवाले

के ही लिये कसाईखाने में पशुओं को मारते हैं। इस प्रकार साधु यदि मांस ग्रहण करता है तो वह हिंसाप्रचार के दोष से मुक्त नहीं हो सकता। साधु को केवल वही आहार ग्रहण करना योग्य है जिसमें पशु-घात को उत्तेजना देने की रंच मात्र भी आशंका न रहे। जैसे साधु नर-मांस को वर्जित समझकर देने पर भी ग्रहण नहीं करता वैसे ही उसे पशु-मांस वा मछली को भी समझना चाहिए। जो जिस वस्तु को ग्रहण या स्वीकार करता है वह उसके प्रचार को उत्तेजना देता है।

यदि किसी का स्वदेशी वस्त्र लेने का वृत हो और वह न परदेशी वस्त्र बनवावे न उसे बनवाने की अनुमति दे, किन्तु दिये जाने पर ग्रहण करे तो वह स्वदेशी के वृत को तोड़ता है और परदेशी वृस्त्र के प्रचार को उत्तेजना देता है—कम से कम मानसिक विकार से वह बच ही नहीं सकता अतएव परोक्ष रूप से (indirect way) मांस-ग्रहण-कर्त्ता पशु-हिंसा का प्रचारक होता है। प्राणातिपात-विरमण वृत (जीव-हिंसा न करने) के रक्षार्थ साधु को नियम से फलादि का आहार ही ग्राह्य है, जो कि प्रत्येक सभ्य देश में मिलता हैं और जिससे भिक्षु-चरित्र की शोभा है।

यदि साधु (=भिक्षु) मांस के अस्वीकार का विचार रक्खेंगे, तो गृहस्थ भी उसे निन्दनीय समझेंगे। वे बाजार से न खरीदेंगे। इस प्रकार मांस बेंचनेवाले निरपराध पशुओं के वध का कारण नहीं बनेंगे।

स्वयं मरे हुए पशु का मांस भी नहीं लेना चाहिए, इससे एक तो मांसाहार की आदत पड़ेगी, दूसरे उस मांस में स्वयं उत्पन्न होनेवाले अनेक कीटाणुओं का वध होगा। जैसे मदिरा का औषध के लिये भी

सेवन मदिरा-पान का उत्तेजक है वैसे स्वयं मृत प्राणी का मांस भी मांसाहार की आदत व प्राणातिपात (=जीव-हिंसा) का उत्तेजक है। बौद्ध विद्वानों को विचारना योग्य है।"

—एक जिज्ञासु।

हम अपने मित्र श्री "जिज्ञासु" जी का पत्र ज्यों का त्यों छाप रहे हैं; और इसके लिये उनके कृतज्ञ हैं। उनके भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिये एक या दो शब्दों के हेर-फेर के अतिरिक्त हमने कोई परिवर्तन नहीं किया। शाकाहार और मांसाहार का प्रश्न बहुत पुराना है। उसके बारे में उभय पक्ष की ओर से इतना काफी कहा गया है कि शायद ही कुछ कहने के लिये बाकी रह गया हो। लेकिन इस पत्र में श्री जिज्ञासुजी ने जो प्रश्न उठाया है वह सीधा शाकाहार और मांसाहार का प्रश्न नहीं। वह प्रश्न है मांसाहार के ग्रहण के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने जो त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस की अनुमति दे रक्खी है और उनके अनुसार बौद्ध देशों में बौद्ध भिक्षु जो मांस ग्रहण करते हैं उसका। श्री जिज्ञासुजी का कहना है कि जिस प्रकार स्वदेशीव्रतधारी के लिये यह आवश्यक है कि वह विदेशी को स्वीकार न करे उसी प्रकार साधू (=भिक्षु) के लिये यह आवश्यक है कि वह दिये जाने पर भी मांस का ग्रहण न करे। लेकिन तब न जब उसने मांस न ग्रहण का व्रत लिया हो? यदि बौद्ध भिक्षु ने मांस से विरत रहने का व्रत ही नहीं लिया, तब उसके लिये जहाँ तक व्रत का सम्बन्ध है वहाँ तक जैसा शाकाहार वैसा मांसाहार।

लेकिन श्री जिज्ञासुजी और उनके सदृश विचार रखनेवाले सज्जन कहेंगे कि भिक्षु ने जीव-हिंसा से विरत रहने का व्रत तो लिया है। हाँ, और इसीलिये भगवान् बुद्ध ने उसके लिये किसी भी ऐसे पशु का मांस—जिसकी हत्या से उसका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध है—अग्राह्य ठहराया है। इस पर श्री जिज्ञासुजी का कहना है कि किसी भी पशु का मांस, किसी भी अवस्था में ग्रहण किया जाय, उस पशु की हत्या से सीधा (direct) सम्बन्ध न सही, परोक्ष (Indirect) सम्बन्ध तो रहेगा ही। हम विनम्रतापूर्वक इस सम्मति से अपना मतभेद प्रकाशित करते हैं। जिस पशु के बारे में भिक्षु ने यह देखा नहीं कि उसके लिये मारा गया है, सुना नहीं कि उसके लिये मारा गया है, संदेह तक की गुञ्जाइश नहीं कि उसके लिये मारा गया है, उस पशु की हत्या के लिये भिक्षु कैसे जिम्मेदार हो सकता है? और जहाँ तक परोक्ष सम्बन्ध की बात है, हम समझते हैं कि मनुष्य-व्यवहार में उसकी कहीं कुछ सीमा होनी चाहिए, नहीं तो किसी भी एक कार्य्य का सम्बन्ध किसी भी दूसरे कार्य्य से जोड़ा जा सकता है।

श्री जिज्ञासुजी का विचार है कि जीव-हिंसा से बचने के लिये फलादि का आहार ही ग्राह्य है, जो कि प्रत्येक सभ्य देश में मिलता है। हाँ, मिलता है और बहुतायत से मिलता है उन्हें जिनकी जेब में खरीदने के लिये पर्याप्त पैसे रहते हैं। लेकिन यहाँ तो प्रश्न उन भिक्षुओं का है, जिनको अपने पास (फल खरीदने के लिये भी) पैसा रखना मना है, और जिनके पास अपनी जठराग्नि को बुझाने का केवल एक

ही उपाय है और वह यह कि वह किसी के द्वार पर भिक्षार्थ जा खड़े हों: और शर्त यह कि एक शब्द बोलें नहीं।

कहाँ ऐसी भिक्षा-चर्य्या और कहाँ फलाहार ही फलाहार!!!

हाँ, मांस में स्वयं उत्पन्न होनेवाले अनेक कीटाणुओं के बध के विचार से भी श्री जिज्ञासुजी ने शाकाहार का समर्थन किया है। क्या हम विनम्रतापूर्वक पूछ सकते हैं कि जिस पानी को हम पीते हैं उसी पानी में जो करोड़ों जीव रहते हैं (जिन्हें कपड़-छान से नहीं निकाला जा सकता) उनकी रक्षा के लिये क्या किया जाय? और जिस हवा में हम साँस लेते हैं, उसी हवा में जो अनेक जन्तु रहते हैं (मुँह पर पट्टी ही बाँधने से भी जिनकी रक्षा नहीं होती), उनकी रक्षा के लिये क्या किया जाय?

उस दिन हमने अपने एक डाक्टर मित्र से कहा कि हमें चाय या काफी कुछ न दो, क्योंकि दोनों उत्तेजक पदार्थ हैं, केवल थोड़ा गर्म पानी दे दो। डाक्टर ने पूछा—"और गर्म पानी? क्या वह उत्तेजक नहीं है?"

सच्ची बात है। हम किसी भी सिद्धान्त को एक ऐसी सीमा तक खींचकर नहीं ले जा सकते, जहाँ पर वह अव्यवहार्य्य हो जाय। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए मांसहार के बारे में जो नियम बनाया है, उसका सौन्दर्य्य इसी बात में है कि वह आदर्श और व्यवहार दोनों पर नजर रखता है।

ईश्वर

कालीकट (मलबार)

१९-१-३६

प्रिय योगेन्द्र,

अपने सिंहल-द्वीप के रास्ते में मैं यहाँ कालीकट में जिस बिहार में ठहरा हूँ उसके एक कमरे में एक सज्जन एक सिंहल भिक्षु को अंग्रेजी की एक आरम्भिक पुस्तक का अभ्यास करा रहे हैं। बार-बार कुछ वाक्य सुनाई देते हैं जिनका अर्थ है :—

१—परमात्मा ने हम सबको बनाया।

२—परमात्मा हम सबको सुख देते हैं।

३—परमात्मा हमें बुराई से बचाता है।

४—परमात्मा को देखना हो, तो उसकी प्रार्थना करनी चाहिये। वह स्वर्ग में रहता है।

प०—४

एक ईश्वर-विश्वासी अध्यापक एक भिक्षु से उक्त अर्थों वाले अंग्रेज़ी वाक्य दुहरवा रहा है, और मैं बैठा सोच रहा हूँ कि यह तरुण भिक्षु— भाषा को एक तरफ़ छोड़ कर—इन वाक्यों को किन अर्थों में, किस रूप में ग्रहण कर रहा है ?

तुम पूछोगे, क्या बौद्ध ईश्वर को मानते ही नहीं ? क्या बौद्धधर्म में ईश्वर का तनिक भी स्थान नहीं ? मैं तुम्हें पाँच छः वर्ष पूर्व की बात सुनाता हूँ, उससे तुम स्वयं अन्दाज़ा लगा लोगे। सिंहल में बौद्ध लड़कों को संस्कृत का कोई ग्रंथ पढ़ा रहा था। उसके मंगला-चरण के श्लोक में भी ईश्वर-स्तुति। लड़के पूछने लगे कि ईश्वर क्या है ? क्या बताऊँ, चिन्ता में पड़ गया। वह पूछने लगे 'ब्रह्मा' ? मैंने कहा-नहीं, उसके चार मुँह होते हैं। "तो विष्णु ?" मैंने कहा-नहीं, वे शेषनाग पर शयन करते हैं। "तो शिव ?" मैंने कहा-नहीं, उनके गले में सांपों की माला होती है। "तो फिर ईश्वर क्या?" अब क्या बताऊं, क्या ? मैं चाहता था कि उन्हें किसी प्रकार उस ईश्वर की कल्पना करा सकूं, 'जिसके हाथ नहीं है, लेकिन सब कुछ करता है; जिसके पांव नहीं हैं, लेकिन जो सब जगह जाता है; जिसके आँखें नहीं हैं, लेकिन जो सब कुछ देखता है; जिसके कान नहीं, लेकिन जो सब कुछ सुनता है...।' लड़के गम्भीर थे। उन्होंने मुझे तंग नहीं किया लेकिन उनके मुँह पर आश्चर्य और हंसी की जो एक स्पष्ट रेखा खिंची थी (यह कैसा ईश्वर ?) मैं उस रेखा को न मिटा सका।

मेरे ख्याल में शायद ही कोई दूसरा शब्द इतने भिन्न २ अर्थों में प्रयुक्त होता है, जितने अर्थों में यह एक शब्द—ईश्वर। इसलिये मैं

तुम्हें सलाह दूँगा कि जब कभी ईश्वर की चर्चा चले तो तुम ईश्वर शब्द को लेकर योंही अपने मित्रों से न उलझ पड़ा करो, उन्हें पहले पूछ लिया करो कि वे ईश्वर शब्द को किन अर्थों में प्रयुक्त करते हैं ? वैसा करने से तुम्हारा "विचार-परिवर्तन" वितण्डा-वाद का रूप धारण करने से कुछ हद तक बचा रहेगा ।

उन लोगों की बात जाने दो जिनके लिये परमात्मा एक ऐसा शक्ति शाली अस्तित्व है, जिसकी चर्चा न करने में ही खैर है । वैसे लोग अब दिन-ब-दिन घट रहे हैं । अधिकांश लोग ईश्वर के बारे में विचार करना पसन्द करते हैं और खासा विचार करते हैं ।

लोगों की दृष्टि में ईश्वर का जो सबसे मोटा स्वरूप है, वह है सृष्टि कर्त्ता का । उनको इस बात की तनिक फ़िक्र नहीं कि ईश्वर ने जो सृष्टि बनाई वह कब बनाई ? कैसे बनाई ? कहाँ बैठकर या खड़े होकर बनाई ? उनसे बात कीजिये, वे तुरन्त पूछेंगे—यदि ईश्वर ने नहीं बनाई तो किसने बनाई ?

मेरे एक मित्र फ्रांस और जर्मनी की सीमा पार कर रहे थे । उनका पासपोर्ट उसी समय कहीं खो गया । रेल में टिकट देखने वाले महाशय ने सबके पास-पोर्ट पूछे, उन्हीं का न पूछा । उस दिन से वह ईश्वर विश्वासी बन गये । उनका कहना था कि यदि ईश्वर ने नहीं बचाया तो मैं ही उन्हें बताऊँ कि किसने बचाया है ? मेरे सामने दो में से एक मुसीबत थी, या तो यह मानूँ कि ईश्वर ने उन्हें बचाया, या फिर यह बताऊँ कि किसने उन्हें बचाया ।

तुम देखोगे कि दुनिया में अनेक लोगों की यही हालत है। वे कहेंगे कि या तो इस बात को मानो कि ईश्वर ने इस सृष्टि को बनाया, या फिर बताओ कि किसने बनाया? यदि तुम कहो कि न हम इस बात को ही मान सकते हैं कि ईश्वर ने यह सृष्टि बनाई, न यही बता सकते हैं कि किसने बनाई, क्योंकि हम अज्ञेय-वादी (Agnostic) हैं; या यह ही नहीं मानते कि सृष्टि निर्मित ही हुई है, तो यह बात उनकी समझ में न आयेगी।

तो क्या बौद्ध-धर्म सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में अज्ञेय-वादी है? हाँ, और नहीं। हाँ, यदि 'सृष्टि की उत्पत्ति के ज्ञान' से तुम्हारा मतलब किसी विशेष दिन का, समय का, स्थान का ही ज्ञान है, जब एक बार सृष्टि अभाव से भाव में आई, तो बुद्ध-धर्म ऐसे समय, स्थान को नहीं मानता। भगवान बुद्ध ने कहा है:—

"अनमतग्गोऽयं भिक्खवे संसारो।
पुब्बा कोटि न पञ्ञयति॥"

भिक्षुओ, यह संसार बिना सिरे के है, इसके पहले सिरे=आरम्भ का पता नहीं लगता। और नहीं, यदि सृष्टि की उत्पत्ति से तुम्हारा मतलब इस अनित्य, दुःख-स्वरूप संसार के दुःखमय अनुभव की उत्पत्ति से है, तो बौद्ध धर्म ही इस बात की शिक्षा देता है कि किस प्रकार दुःख का समुदय (उत्पत्ति) होता है और किस प्रकार निरोध (विनाश)। बौद्ध धर्म के इस विशिष्ट सिद्धान्त को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। उसके बारे में तुमने धर्म-दूत में अलग पढ़ा होगा या पढ़ोगे।

कुछ लोग समझते हैं कि बौद्ध धर्म ईश्वर के सम्बन्ध में मौन है; इसलिये उन्हें अधिकार है कि वे अपने आप को भगवान् बुद्ध का अनुयायी भी कहें और अपने दिल के एक कोने में अपने प्यारे ईश्वर के लिये भी स्थान सुरक्षित रक्खें, लेकिन ऐसा समझना भूल है। भगवान् बुद्ध ने दुःख-सत्य, दुःख-समुदय-सत्य, दुःख-निरोध-सत्य, दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा-सत्य नाम से जो चार आर्य-सत्यों का उपदेश किया है, वह इतना स्पष्ट है, इतना व्यापी है कि उसको स्वीकार कर लेने पर "ईश्वर" की जितनी भी भिन्न भिन्न कल्पनायें प्रचलित हैं, उनमें से किसी भी कल्पना की स्वीकृति के लिये जगह नहीं रह जाती।

ईश्वर का सबसे बड़ा सहायक है इलहाम=ईश्वर-कृत ग्रन्थों की सम्भावना। इलहाम नहीं, तो ईश्वर के अस्तित्व के दूसरे प्रमाण अत्यन्त दुर्बल हैं और यदि ईश्वर नहीं तो इलहाम तो है ही नहीं। स्वामी दयानन्द ने ठीक ही कहा है कि यह हो नहीं सकता कि ईश्वर सृष्टि के आदिमें अपने प्यारे पुत्रों को मार्ग दिखाने के लिये वेदज्ञान= ऋक्+यजुः+साम+अथर्व पैदा न करे। जब वेद=कुरान=बाइबिल सभी इलहामी किताबें किसी न किसी प्रकार के ईश्वर का प्रतिपादन करती हों, तब फिर कौन है जो उस "परम पिता परमात्मा" के अस्तित्व से इनकार करने का साहस करे!

तुम लिखते हो कि तुमने इलहाम के ख्याल को बहुत दिन से ताक पर उठा कर रख दिया है। यदि ऐसा है तो मुझे मालूम देता है कि तुम्हारा ईश्वर भी खतरे में है, क्योंकि उसमें अपनी रक्षा आप करने की सामर्थ्य बहुत थोड़ी है।

इलहाम के अलावा ईश्वर के पक्ष में मोटे तौर पर दो और बातें कही जाती हैं, जिनमें एक तो यह है कि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होना चाहिये; और एक कार्य का कारण, फिर उसका कारण, इस प्रकार सृष्टि का आदि-कारण अवश्य होगा। जो सृष्टि का आदि-कारण है वही ईश्वर है।

इस दलील में दो नुक़्स हैं। पहला तो यही कि यदि प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होना ही चाहिये, तो फिर "आदि-कारण" का कारण भी होना ही चाहिये। इसे स्पष्ट शब्दों में कहें तो यों कह सकते हैं कि यदि प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कर्त्ता होना ही चाहिये, तो फिर ईश्वर का भी कर्त्ता होना चाहिये। लेकिन ज्योंही आप किसी से पूछिये कि ईश्वर को किसने बनाया? तो या तो वह समझता है कि आप उससे मज़ाक कर रहे हैं, या फिर बग़लें झांकने लगता है। लेकिन यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि ईश्वर सृष्टि का "आदि-कारण" है, तो फिर प्रश्न उठता है कि वह उपादान-कारण है वा निमित्त-कारण? उपादान-कारण और निमित्त-कारण का प्रश्न ईश्वर-विश्वासी के लिये अनेक कठनाइयाँ पैदा करता है। मैंने तो, तुम जानते हो कि, बहुत दिनों से भूत-प्रेतों और ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व की चर्चा छोड़ दी है। भयभीत हृदयों को कैसे कोई विश्वास कराये कि भूत-प्रेत और ईश्वर दोनों ही 'मनुष्य के मानस-पुत्र' हैं! तुम्हारी इस विषय में रुचि है, तो राहुल जी द्वारा अनूदित् **मज्झिम निकाय** (हिन्दी) की भूमिका देख लेना। वहाँ तुम्हें कुछ विचार सामग्री मिलेगी।

दूसरी दलील जो ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दी जाती है, वह है सृष्टि के प्रत्येक कार्य के नियमित होते रहने की दलील। कहा जाता है कि इस नियम=न्याय का कोई न कोई नियन्ता=नियामक अवश्य होना चाहिये। संसार के इतने जो कार्य बुद्धि-पूर्वक हो रहे हैं उनके पीछे कोई महान्-बुद्धि अवश्य होनी चाहिये। वह महान-बुद्धि ही ईश्वर है।

लड़के ताश का एक खेल किया करते हैं। उसमें पत्तों को एक ओर से देखा जाय तो सारे के सारे लाल; लेकिन दूसरी ओर से देखा जाय तो सारे के सारे काले। मुझे तो प्रतीत होता है कि संसार में यदि हम जान बूझ कर न्याय ही न्याय देखने पर तुले हुये न हों, जो अन्याय है उसी को न्याय कह कर, आत्म-वंचना के गढ़े में गिरने से बच सकें तो इस संसार में हमें तो अन्याय ही अन्याय दिखाई देगा।

मनुष्य के मस्तिष्क की यदि कोई सबसे हानिकर उपज है तो वह है एक न्यायी-ईश्वर की कल्पना। उसने हमें दिन दहाड़े होते अन्याय को न्याय-कर्त्ता की कृति=न्याय समझ कर झूठे संतोष का घूंट पीना सिखाया है। उसके बिना हम न जाने क्या कर देते?

और यह जो सृष्टि-कर्ता को "महान्-बुद्धि" समझा जाता है सो उसका क्या कहना? मैं यहाँ समुद्र-तट से पत्र लिख रहा हूँ। यहाँ जब स्थल पर वर्षा होती है तो सामने समुद्र में भी क्यों होती है? पानी में पानी बरसने से क्या लाभ? क्या उसको पता नहीं कि कहाँ २ स्थल है और कहां २ जल?

मैं कल या परसों सिंहल के लिये चल दूँगा। तुम अपना पत्र C/o Vidyalankar college, Kelaniya (ceylon) देना।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन

पुनश्चः—यह तो तुमने पढ़ा ही होगा कि अपने को ऊँचा समझने वाले लोगों के अनुचित व्यवहार से तंग आकर यहाँ के अनेक लोगों ने बुद्ध-धर्म की शरण ली है। सो अब मलाबार भी बुद्ध-धर्म के प्रसार का केन्द्र बन रहा है।

जातिवाद

सलगल अरण्य

(सिंहल)

२३-२-३६

प्रिय योगेन्द्र,

इस सम्बन्ध में तुम्हारी उत्सुकता ठीक ही है कि हिन्दू महासभा (पूना) के अधिवेशन में श्रीयुत जयकर के जात-पाँत-सम्बन्धी प्रस्ताव के साथ वास्तव में क्या बीती ? मैं तुम्हें पूना से ही इस बारे में लिखता, लेकिन वहाँ मरने की भी फुरसत नहीं थी। आजकल यहाँ फुरसत है, इसलिये निश्चिन्त होकर लिख रहा हूँ।

उस दिन रात के ग्यारह बजे थे। पं० मदनमोहन मालवीय के सभा-पतित्व में विषय-निर्धारिणी समिति की जो बैठक हो रही थी, उसमें कुछ विशेष जान आगई। इतनी रात गुज़रने के कारण

जिन लोगों का ऊँघना कुछ आपत्तिजनक नहीं समझा जाना चाहिये, वे भी जागरूक थे। इधर-उधर के छोटे छोटे प्रस्तावों को एक विशेष प्रस्ताव की प्रतीक्षा में और उस विशेष प्रस्ताव पर जितनी जल्दी विचार हो सके, विचार करने की उत्सुकता में—जल्दी जल्दी निपटा दिया गया। अब श्री जयकर खड़े हुये। सब लोगों की आखें और कान उधर थे। श्री जयकर ने बड़े ही नपे तुले शब्दों में प्रस्ताव पेश करते हुए कहा—किसी व्यक्ति के समाज-विशेष में जन्म लेने के कारण, उसके जन्म से ही यह जो उसे ऊँचा या नीचा समझ लेने की रूढ़ि है, यह हिन्दू जाति के लिये रसातल का रास्ता है। शब्द भिन्न हों, भाव यही थे। उन्होंने कहा कि यह कुप्रथा हममें ऐसी बुरी तरह घर कर गई है, इसलिये आजही उठा दी जाय ऐसा प्रस्ताव तो लाना शायद अव्यवहारिक होगा; इसलिये मैं (श्री जयकर) प्रस्ताव करता हूँ कि हिन्दू-महासभा हिन्दुओं से इस बात की सिफारिश करे कि वह इस जन्म से ऊँच-नीच के विचार (जाति-पाँति) को ढीला करें।

श्री काँटे नाम के एक सज्जन ने आपत्ति की। उनका कहना था कि जाति-पांति सम्बन्धी किसी भी प्रस्ताव पर विचार करना 'कुछ लोगों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप' करना होगा और चूँकि हिन्दू-महा-सभा अपनी नियमावली के अनुसार किसी के भी धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के लिये वचन-बद्ध है, इसलिये इस पर विचार नहीं हो सकता।

डा० मुञ्जे ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि हम यदि यहाँ

इस प्रकार का कोई प्रस्ताव पास कर रहे हैं तो हम किसी के 'धार्मिक मामले में हस्तक्षेप' नहीं कर रहे हैं। हम तो केवल एक हितकर प्रस्ताव द्वारा एक हितकर कार्य करने की सिफारिश कर रहे हैं।

श्रीयुत जयकर ने कहा कि यदि हिन्दू जाति के हित के प्रत्येक प्रस्ताव को पेश करते हुये हमारे लिये यह विचार करना अनिवार्य है कि यह किसी न किसी के 'धार्मिक मामले' में हस्तक्षेप तो नहीं करता, तो हम हिन्दू-महासभा में कोई भी प्रस्ताव पास नहीं कर सकते; क्योंकि प्रातःकाल दातुन करने से रात को सोने तक के सारे ही कृत्य हिन्दुओं में किसी न किसी के 'धार्मिक मुआमले' ही हैं।

बहुत तरह की बातें बहुत तरह से कही सुनी गईं। सभा का रुख श्रीयुत जयकर के साथ था। वे बोलते थे तो मालूम होता था युग-धर्म बोल रहा है। अन्त में पूज्य मालवीय जी के सिर पर यह भार आया कि वह इस मामले में अपनी निर्णायक सम्मति दें कि जाति-पांति के विचार को ढीला करने का प्रस्ताव हिन्दू-महा-सभा की नियमावली के प्रतिकूल ही पड़ेगा वा अनुकूल भी पड़ सकता है। मालवीय जी ने अपनी निर्णायक सम्मति दी। वही जिसकी आशा थी—'जाति-पांति सम्बन्धी प्रस्ताव हिन्दू-महासभा में विचाराधीन नहीं आ सकता।'

एक सन्नाटा सा छा गया। मालवीय जी के व्यक्तिगत विचार चाहे जो हों। लोग कहते थे कि नेता में अपने युग-धर्म को समझने की भी तो कुछ शक्ति होनी चाहिये। आखिर हिन्दू जाति के अनेक

हित-चिन्तकों की मर्मवेदना श्री जयकर की वाणी में फूट निकली। उन्होंने कहा—"मालवीय जी! इस अवसर पर आपका निर्णय हिन्दू जाति के अभाग्य का द्योतक रहा है।" उस दिन जिन्होंने श्री जयकर को बोलते सुना उनमें अनेक कह रहे थे कि इतनी दूर से पूना चलकर आने का उनका श्रम सफल हो गया।

जो लोग प्रगतिवादी हैं, वे कहते हैं और कहेंगे कि मालवीय जी ने इस समय बहुत बुरा किया; लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि सामाजिक मामलों में जिन प्रगति विरोधी (=सनातनी) लोगों के नेता मालवीय जी हैं उन लोगों को साथ रखना मालवीय जी के लिये आवश्यक है। किसी दूसरे व्यक्ति के लिये भी ऐसी परिस्थिति में कोई दूसरा निर्णय दे सकना सहज कार्य नहीं था। लेकिन तो भी मैं समझता हूँ कि जिस आधार पर श्री मालवीय जी ने और उनके इशारे पर हिन्दू-महासभा ने जाति-पाँति की समस्या पर विचार करने से इनकार किया है, वह आधार गलत है। पूज्य मालवीय जी और उनके साथ सहमत लोगों का यह समझना कि जाति-पाँति की समस्या पर विचार करने से कुछ ही लोगों के "धार्मिक मुआमलों" में हस्त-क्षेप होगा, ठीक नहीं; इसका सम्बन्ध सारे के सारे हिन्दू-समाज से है। यदि जन्म-आश्रित जाति—भेद एक कल्याण-कारी संस्था है, तो हिन्दू-महासभा को उसमें अपना विश्वास प्रगट करना चाहिये और यदि वह एक हानिकर-रुढ़ि है, तो उसे जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी हटाने का प्रयत्न आरम्भ करना चाहिये। अगर हिन्दू-महा सभा हिन्दू-समाज के जीवन और मरण से सम्बन्ध रखने वाले एक

ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अपनी कुछ भी सम्मति नहीं रखती, अथवा उसे प्रगट नहीं करती, तो फिर हमें यह पूछने पर बाध्य होना पड़ता है कि आखिर हिन्दू-महासभा है किस मर्ज़ की दवा? हम उसे अपने किस फोड़े पर रगड़ कर लगावेंगे ?

भगवान बुद्ध की शिक्षा इस बारे में बिल्कुल स्पष्ट है। "सुत्त निपात" (पाली) में वसिष्ठ माणवक (ब्रह्मचारी) को सम्बोधन करके भगवान् कहते हैं—

(१) तिण रुक्खेपि जानाथ, न चापि पाटिजानरे।
लिङ्गं जातिमयं तेसं, अञ्ञमञ्ञाहि जातियो ॥

(२) ततो कीटे पतंगे च, याव कुन्न किप्पिल्लके।
लिंगं जातिमयं तेसं, अञ्ञमञ्ञा हि जातियो ॥

(३) चतुप्पदे पि जानाथ, खुद्दके च महल्ल के।
लिंगं जातिमयं तेसं, अञ्ञमञ्ञा हि जातियो ॥

(४) पादूदके पि जानाथ, उरगे दीघ पिट्ठिके।
लिंगं जातिमयं तेसं, अञ्ञमञ्ञा हि जातियो ॥

(५) ततो मच्छेपि जानाथ, उदके वारिगोचरे ।
लिंगं जातिमयं तेसं, अञ्ञमञ्ञा हि जातियो ॥

(६) ततो पक्खि विजानाथ, पत्तयाने विहङ्गमे ।
लिंगं जातिमयं तेसं, अञ्ञमञ्ञा हि जातियो ॥

(७) यथा एतासु जातिसु, लिङ्गं जातिमयं पुथु ।
एवं नत्थि मनुस्सेसु, लिंगं जातिमयं पुथु ॥

इसका भावार्थ है कि तृणों में परस्पर आकार की समानता होने से तृणों की एक 'जाति' है, कीट-पतङ्गों में आकार की समानता होने से कीट-पतंगों की एक 'जाति' है। इसी प्रकार चतुष्पदों, पेट के बल रेंगने वालों, मछलियों और पक्षियों की भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। लेकिन जिस प्रकार इन भिन्न भिन्न जातियों के भिन्न भिन्न चिन्ह (लिङ्ग) हैं, उस प्रकार मनुष्यों की 'जातियों' में तो कोई भिन्न-भिन्न (लिङ्ग) नहीं। सभी मनुष्यों के कान, आँख आदि समान हैं।

और यह जो कुल विशेष में जन्म लेकर—कहीं न कहीं तो जन्म होगा ही—जन्म लेने मात्र से लोग अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र समझते हैं, उसके बारे में भी भगवान् आगे चल कर कहते हैं:—

यो हि कोचि मनुस्सेसु, गोरक्खं उपजीवति।
एवं वासेट्ठ जानाहि, कस्सको सो न ब्राह्मणो॥

यों ही कोचि मनुस्सेसु, वोहारं उपजीवति।
एवं वासेट्ठ जानाहि, वाणिजो सो न ब्राह्मणो॥

यो ही कोचि मनुस्सेसु, पुरोहिच्चेन जीवति।
एवं वासेट्ठ जानाहि, याजको सो न ब्राह्मणो॥

अर्थ:—जिस आदमी का पेशा खेती-बारी है, वह कृषक है; ब्राह्मण नहीं। जिस आदमी का पेशा व्यापार है, वह बनिया है; ब्राह्मण नहीं। जिस आदमी का पेशा पुरोहिताई है, वह याचक है; ब्राह्मण नहीं।

इसी बात को भगवान् बुद्ध ने दूसरी तरह भी स्पष्ट किया है:—

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।
कम्मना ब्राह्मणो होति, कम्मना होति अब्राह्मणो॥
कस्सको कम्मना होति, सिल्पिको होति कम्मना।
वाणिजो कम्मना होति, पेस्सिको होति कम्मना॥
चोरोपि कम्मना होति, योधा जीवोपि कम्मना।
याजको कम्मना होति, राजा जीवोपि कम्मना॥

अर्थ:—न जन्म से कोई ब्राह्मण है न अब्राह्मण। कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण है और कर्म से अब्राह्मण। कृषक भी कर्म से होता है और शिल्पी भी कर्म से। बनिया भी कर्म से होता है और बुनने वाला भी कर्म से। चोर भी कर्म से होता है और योद्धा भी कर्म से। याजक भी कर्म से होता हैं और राजा भी कर्म से।

इस अमर वाणी पर यदि तुम विचार करोगे तो देखोगे कि हिन्दू-समाज का जाति-पाँति-वर्ण-धर्म का क़िला कितना निस्सार तथा निराधार है। इस मिथ्या-विश्वास से हमारी सब से बड़ी हानि जो होती है वह यह है कि बचपन से ही एक बच्चे के गले में उच्च-मान (Supirior complex) और एक दूसरे बच्चे के गले में नीच-मान् (Inferior complex) का ज़हर उतार दिया जाता है। एक लड़का किसी का जूता नहीं छूता; क्योंकि वह ब्राह्मण है। दूसरा लड़का किसी की रोटी या पानी नहीं छूता; क्योंकि वह चमार है। हिन्दू जाति का प्रत्येक बच्चा, तरुण और बूढ़ा (यदि उसने जाति-वाद को सलाम नहीं कर दिया) किसी न किसी प्रकार के मान का गुलाम है।

आज हमें 'ब्राह्मण' नहीं चाहिये, आज हमें 'क्षत्रिय' नहीं चाहिये, आज हमें 'वैश्य' नहीं चाहिये, आज हमें 'शूद्र' नहीं चाहिये, आज के युग को आवश्यकता है ऐसे बुद्धिमान तथा चरित्रवान् व्यक्ति की जो समय पड़ने पर कोई भी काम सीख ले और उसे सुचारु रूप से कर सके।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन

पुनश्च:—नरेन्द्र ने शिकायत की है कि तुम 'धर्म-दूत' को पढ़कर उसके पास नहीं भेजते। या तो उसके पास नियम-पूर्वक भेज दिया करो, या फिर उसके नाम से भी आठ आने के ठिकट जमा कर दो।

चारिका

कल्याणी

(सिंहल)

२१-३-३६

प्रिय योगेन्द्र,

मेरी गैर हाजिरी में आया हुआ तुम्हारा पत्र कई दिन तक मेरी प्रतीक्षा करता रहा। मैं यहाँ न था। कल ही चारिका से लौटा हूँ।

इधर दो तीन वर्ष से रेल, मोटर, बस, जहाज,—हाँ एक बार हवाई जहाज का भी—इतना अधिक सफ़र रहा कि कुछ समय से तबियत पैदल ही पैदल चलने के लिये छटपटा रही थी। ९ तारीख़ को मैंने अपने गुरुदेव श्रद्धेय लु० धम्मानन्द जी से कुछ दिन तक पैदल सफ़र करने की आज्ञा माँगी। उन्होंने कहा "लेकिन १५ तारीख को जो तुम्हें कैण्डी की उस संघ-सभा में सम्मिलित होना है।" मैंने

कहा—"मैं कैण्डी की ओर ही चल दूंगा। जिस सभा में जाना स्थिर हो चुका है, उस में तो जाऊँगा ही। सभा समाप्त हो चुकने पर फिर जिधर मर्ज़ी उधर।" आज्ञा मिल गई।

९ तारीख को मध्याह्नान्तर कोई तीन बजे मैं अपने विहार से चला। कन्धे पर पात्र-चीवर और धूप तथा वर्षा से बचने के लिये बर्मा की बनी छतरी के अतिरिक्त पास में कुछ न था। विद्यालय के वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध स्थविरों को प्रणाम कर, उनका आशिर्वाद ले, मैं विहार से निकला। रास्ता पक्की सड़क के किनारे किनारे का था। मोटरों और बसों की कुछ न पूछो। पेट्रोल की सड़ाँद के मारे दो मिनट के लिये नाक से रूमाल उतारना कठिन था। अपने जब मोटर में बैठ कर चलता था—आगे भी चलना होगा ही—तब कभी इस बात का यथार्थ अनुभव नहीं हुआ था कि मोटर-सवार पैदल चलने वाले मुसाफिरों के लिये कितना अधिक अप्रिय हो सकता है। बीच-बीच में जब कुछ देर के लिये कोई मोटर या बस नहीं आती, और पेट्रोल की दुर्गन्ध के स्थान में झूमते हुए नारियलों की स्वच्छ हवा मिलती, तो मन बाग-बाग हो जाता। किनारे पर जगह-जगह नारियल के पत्तों की गरीबों की झोपड़ियाँ; बीच-बीच में सम्पन्न लोगों के आधुनिक ढङ्ग के मकान और दुकानें!

चलता-चलता तीन-चार मील निकल गया। देखा, एक आदमी दबे-पाँव पीछे आ रहा है। मैं रुका तो वह बड़ी विनम्रता पूर्वक पूछने लगा कि आप कहाँ जा रहे हैं? मैंने कहा 'कडवत'। आप का विहार? मैंने कहाँ "विद्या-लङ्कार परिवेण"। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न पूछकर

उसने यह मालूम कर लिया कि मैं सिंहल देशीय भिक्षु नहीं हूँ। कुछ दूर आगे चलकर पूछने लगा—"क्या आप कभी हमारे इम्बुलगोड के विहार में धर्मोपदेशार्थ गये हैं? मैंने कहा—"हाँ, लेकिन उसे तो तीन चार वर्ष हो गये।" उसने कहा—"मैं आप को शुरू में ही पहचान गया था, लेकिन पूछते हुए डर रहा था।" मैंने उसकी—उसके घर की—अवस्था पूछी, और रास्ते चलते जहाँ-तहाँ जो थोड़ी बात कर सकता था, करता आया। कडवत की दुकानें आईं, तो वह कहने लगा कि कृपया थोड़ी चाय पी लीजिये। भारत होता तो सबसे पहला प्रश्न होता कि दुकान किसकी है—हिन्दू की या मुसलमान की? यहाँ तो प्रश्न की गुंजाइश नहीं। बौद्धों के साथ साथ मुसलमानों की भी दुकाने हैं। जिस दुकान पर चीजें अच्छी दिखाई दें, उसी पर जा डटो। लेकिन मुझे प्यास नहीं थी। मैंने कहा, इस समय आवश्यकता नहीं। वह आग्रह करने लगा कि कुछ चाय चीनी साथ बाँध लें। मैंने कहा—"आवश्यकता-होती तो अवश्य स्वीकार कर लेता,लेकिन अवश्यकता ही नहीं।" उस लोहार का वह आग्रह कितना मीठा था और कितना धर्म-पूर्ण!! अमीरों के बड़े-बड़े निमन्त्रणों में यह माधुर्य्य कहाँ !!!

कडवत के विहार में पहुँचा, तो वहाँ के स्थविर भिक्षु कहीं जाने के लिये बाहर खड़े थे। मुझे देखकर रुक गये और साथ अन्दर लिवा ले गये। आतिथ्य करना नैवासिक (विहार में रहने वाले) भिक्षु का धर्म है, और फिर जब भिक्षु परिचित हो तो क्या कहना! एक रात इस विहार में रहा। चारिका की पहली रात थी। खूब अच्छी लगी।

एक और आगन्तुक भिक्षु आये थे । बात-चीत में पूछने लगे कि भिक्षु बनने से पहले आप किस जाति के थे ? मैंने कहा—बौद्ध-धर्म तो जाति-वाद को नहीं मानता न ? सुबह उठा तो उन्हें कहते सुना "बड़ा पक्का भिक्षु है ।"

प्रातः कृत्यों से निवृत्त हो मैंने बुद्ध-मंदिर के आस पास झाड़ू दी । फिर अन्य भिक्षुओं के साथ बैठ जल-पान किया । तदन्तर नैवासिक भिक्षुओं से विदा ले, अपना पात्र चीवर सँभाल, फिर सड़क-सड़क हो लिया ।

कडवत से इम्बोलगोड-बिहार कुल चार-पाँच मील है । हलके-हलके चलकर भी दस बजते-बजते वहाँ पहुँच गया । सड़क के किनारे पहाड़ी ढङ्ग के टीले में से कटा हुआ यह बिहार मुझे बड़ा ही प्रिय है । यहाँ के भिक्षु मेरे पूर्व-परिचित हैं—बड़े ही सफाई पसन्द । हाँ, उन्होंने कुछ गिलहरियाँ पाल रक्खी हैं । ठीक समय पर घण्टी बजाते हैं तो चारों ओर के वृक्षों पर की गिलहरियाँ उनके हाथ से डबल रोटी या केले की फली खाने आ बैठती हैं । आज दोपहर इसी विहार में स्नान और भोजन कर, शाम को चलता-चलता यहाँ से सात मील के फासले पर यकवल विहार में पहुँचा । रास्ते में वर्षा की सम्भावना लगी रही, लेकिन वर्षा हुई नहीं । वर्षा होती तो चारिका का आनन्द दुगुना हो जाता ।

भिक्षुवर धर्मपाल विनय की मूर्ति हैं । मुझे देखते ही उछल पड़े । मैं और आप साथ-साथ उपसम्पन्न हुए थे । भिक्षु भी "द्विजों" की तरह द्विजन्मा होता है । उसका दूसरा जन्म होता है प्रव्रज्या या उपसम्पदा

के समय। इस प्रकार मैं और श्री धर्मपाल साथ जन्मे भाई होने से परस्पर विशेष आदर और प्रेम का भाव रखते हैं। श्री० धर्मपाल की आयु अधिक है और आजकल अस्वस्थ्य रहते हैं। शाम को वेल (विल्व) उबालकर उसके शर्बत का विशेष व्यवहार करते हैं। मुझे भी दिया और साथ ही एक मजे की बात भी सुनाई। कुछ दिन हुए उन्होंने देखा कि विहार में रहने वाले लड़कों ने वेल को अच्छी तरह उबाला नहीं है; क्योंकि अभी पानी का रङ्ग पूरा लाल नहीं हुआ था। लड़कों से जब कहा गया तो अगले दिन उन्होंने वेल में चाय की पत्तियाँ डाल दी; जिसमें रङ्ग लाल हो जाय। श्री धर्मपाल ने जब मुझे यह बात सुनाई तो मैंने हँसकर कहा कि इसमें दोष आपकाही है; आप स्वाद भी चाहते हैं और रङ्ग भी।

प्रातःकाल भिक्षु धर्मपाल ने बहुत सवेरे ही मेरे जलपान का प्रबन्ध कर दिया, जिसमें मैं ठण्डे-ठण्डे कुछ मील निकल जाऊँ। साढ़े नौ बजते-बजते मैं यकवल से नौ मील के फासले पर नापागोड विहार पहुँचा। इस विहार में जब मैं पिछली बार आया था, तब बड़े भिक्षु कहीं बाहर गये हुए थे, और मौजूद थे केवल दो छोटे-छोटे श्रामणेर। उन्होंने एक अपरिचित भिक्षु का जैसा स्वागत किया, वह उनकी आयु के लिये एक असाधारण बात थी। इस बार तो इस विहार में एक परिवेण (= विद्यालय) खुल गया है, जहाँ तेरह-चौदह भिक्षु पढ़ते हैं अभी ताजा परिवेण होने से विद्यार्थियों की संख्या कम है। आशा है शनैः शनैः बढ़ जायगी।

आज के मध्याह्न का स्नान और भोजन इसी विहार में रहा। यहाँ

से चला तो एक डेढ़ मील पर एक परिचित सज्जन मिले। वह इस इलाके में करघे के कपड़े का प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। कहते थे जापानी कपड़े से मुकाबला करना कठिन है, असम्भव है। कुछ देर इनके कारखाने में ठहर कर अपने राम ने फिर सड़क पकड़ी। रास्ते में एक जगह बारूद से पहाड़ फोड़ा जा रहा था। वहाँ कुछ देर रुकना पड़ा। लेकिन शाम होते-होते अपने एक और पूर्व-परिचित विहार—वैवलदेनिय में जा पहुँचा।

रात्रि-विश्राम के अनन्तर जब अपने पूर्व-परिचित और अपने विद्यालंकार परिवेण के ही पुराने शिष्य वैवल देनिय-विहार-वासी भिक्षु से विदा लेकर मैंने सड़क पकड़ी, तो सोचता जा रहा था कि प्रत्येक विहार में किसी न किसी परिचित भिक्षु का ही मिलना अच्छा नहीं। कहीं किसी अपरिचित स्थान में किसी अपरिचित भिक्षु के आतिथ्य-ग्रहण का अवसर भी मिलना चाहिये। लगभग छः मील चल चुका था। सड़क से कुछ हट कर एक विहार दीख पड़ा—ऐसा विहार जिसमें किसी परिचित के मिलने की सम्भावना न थी। सोचा, आज दोपहर यहीं कटे।

सड़क पार कर के विहार की सीमा में पहुंचा, तो देखा कि शरीर से अत्यन्त कृश एक भिक्षु एक-दो मजदूरों से कुछ काम करा रहे हैं। मैं एक ओर जा कर खड़ा हो गया। उनका ध्यान आकृष्ट हुआ, तो वे मेरी ओर बढ़े। अपना परिचय देते हुये उन्हें नमस्कार कर मैंने कहा कि मैं पैदल कैण्डी जा रहा हूँ। कुछ देर यहाँ विश्राम करूँगा। पूछने लगे कि प्रातःकाल का भोजन किया है? मैंने कहा "हाँ"।

लेकिन उन्हें कुछ ऊँचा सुनाई देता था; उन्होंने सुना "नहीं"। आई हुई भिक्षा में से कुछ भिक्षा एक प्लेट में परसवा कर लाये और कहने लगे कि चलो पहले कुछ खा लो। बड़ी मुश्किल से मैं उन्हें समझा पाया कि मैं सुबह का जलपान कर चुका हूँ और अब मध्याह्न के भोजन से पूर्व मुझे किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं।

थोड़ा ठण्डा होकर मैं एक कुएँ पर—जिसे बरसाती पानी का चबच्चा कहना अधिक ठीक होगा—नहाने गया। वहाँ कुछ गारा था। उससे बचने के लिये लकड़ी के पट्टे पर ज़रा बढ़ कर पैर जो रक्खा, सो वह ऐसा फिसला कि हम सीधे जमीन पर आ रहे। हाथ में थोड़ी चोट आई और थोड़ी पाँव में; लेकिन केवल इतनी कि मेरी पैदल चारिका में बाधक होने के लिये काफी हो।

स्नान समाप्त कर जैसे-तैसे कुछ थोड़ा खाकर, अपने कृपालु भिक्षु की चिन्ता का कारण बन, मैं फिर सड़क पर आया। एक लारी (=माल ढोने की मोटर) जा रही थी। उसे खड़ा किया और ड्राइवर से कहा कि मुझे कैगल तक—जहाँ अस्पताल की सम्भावना थी—पहुँचा दो। ड्राइवर ने आगे ले जाना भी स्वीकार किया। मैंने कहा—नहीं, केवल कैगल तक।

अस्पताल में काफी ठहरना पड़ा। दो बजे आने वाले डाक्टर तीन बजे भी न आये थे। पीछे पट्टी बांधने पर मालूम हुआ कि अभी दो-चार दिन पैदल सफर करना नादानी होगी।

मार्ग के अपरिचित और परिचित लोगों की दया के फल स्वरूप

मैं कैण्डी में समय पर पहुंच गया, लेकिन यात्रा मोटर-बस से होने के कारण उसके बारे में इस पत्र में कुछ न लिखूँगा।

कल धर्म-राजिक कालेज के प्रिंसिपल कुलरत्न अपनी मोटर-गाड़ी में यहाँ पहुंचा गये। अब टाँग अच्छी हो गई।

हाँ, आज या कल फिर चारिका की तैयारी है।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन।

---(●)---

चित्त की स्थिरता

(१)

सारनाथ

२२-७-३६

प्रिय योगेन्द्र,

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि मोटर, रेलगाड़ी, वायुयान तथा अन्य वाहनों के जोकि हमारा इतना समय बचाते हैं—रहते हुए भी हमें सदा "समय के अभाव" की शिकायत बनी रहती है। मेरी तरह तुम्हें भी इस बात का अनुभव होगा कि तुम्हारे कई मित्र "समय के अभाव" के ही कारण तुम्हें समय पर चिट्ठी नहीं भेजते। क्या यह ठीक नहीं है? और यदि तुम अपने मित्रों की तथा अपनी भी दैनिक दिनचर्या पर जरा सा भी विचार करोगे तो तुम देखोगे कि तुम यों भले ही नित्यप्रति "समय के अभाव" की शिकायत किया करो, लेकिन तुम्हारा अधिकांश समय न केवल बेकार ही किन्तु निश्चय रूप से हानिकारक ढङ्ग से खर्च होता है।

एक उदाहरण दूं। तुम रास्ते में जा रहे हो। तुम्हारा एक मित्र मिल जाता है। बातचीत में वह तुम्हें कोई ऐसी बात कह देता है जो तुम्हें पसन्द नहीं आती। उस बात को कहने में उस मित्र को शायद एक मिनट भी नहीं लगा; लेकिन तब से तुमने उसके विषय में विचार करते रहकर कितना समय नष्ट कर दिया ? क्या मन की इस अवस्था ने तुम्हारी कुछ भलाई की ? मान लो, उस मित्र ने तुम्हें ऐसी बात कही जो तुम्हें पसन्द आई। क्या तब से तुमने उन मीठे शब्दों को अपने मन में बार-बार नहीं दोहराया ? क्या तुम्हारा मन इतनी देर तक चंचल नहीं रहा ? क्या तुम इस समय में स्थिरतापूर्वक कोई खास काम कर सके ? यदि नहीं तो यह समझ लो कि इस प्रकार की चंचलता से हमारी तुम्हारी केवल इतनी भलाई होती है कि हम नित नये रोगों के शिकार बनते चले जाते हैं।

जरा सोचो कि यदि इस प्रकार की चंचलता के कारणों के रहते भी तुम अपना मन एकाग्र रख सको तो उससे तुम्हारा कितना समय बच सकता है और तुम अपने इस जीवन में कितना अधिक काम कर सकते हो !

अंगुत्तर-निकाय में भगवान् ने सभी व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में बाँटा है—(१) पत्थर लकीर-व्यक्ति, (२) जमीन-लकीर-व्यक्ति, (३) जल-लकीर-व्यक्ति। तुम पत्थर पर एक तेज चाकू से कोई रेखा खींचो तो फिर वह सुगमता से नहीं मिट सकती। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे हैं जिनका मन यदि एक बार अशान्त हो जाय तो फिर उसे एकाग्र करने में बड़ी कठिनाई होती है। इस प्रकार के लोग पत्थर-

लकीर-व्यक्ति कहलाते हैं। अगर तुम अपनी छड़ी से जमीन पर एक लाइन खींचो तो उसे मिटाने में विशेष कठिनाई नहीं होती। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे हैं जिनका मन एक बार अशान्त होने पर फिर बिना विशेष कठिनाई के एकाग्र हो जाता है। ऐसे लोग जमीन-लकीर-व्यक्ति कहलाते हैं। लेकिन, अगर तुम पानी के ऊपर एक लाइन खींचो तो क्या वह उस पर देर तक रहेगी? नहीं, वह तो उसी दम स्वयं मिट जायगी। इसी प्रकार थोड़े से ऐसे लोग भी हैं जिनके मन पर किसी प्रकार का असर पड़ता ही नहीं प्रतीत होता। उन्होंने इतनी एकाग्रता प्राप्त कर ली है कि उन्हें कोई भी बात अस्थिर नहीं कर सकती। ऐसे लोग जल-लकीर-व्यक्ति कहलाते हैं।

अब तुम अपने से जरा एक प्रश्न पूछो कि इन तीनों श्रेणियों में से तुम किस श्रेणी के हो? क्या तुम पहली में हो या दूसरी में या फिर तीसरी ही में? क्या एक बार मन अशान्त होने पर फिर उसे एकाग्र करने में तुम बहुत कठिनाई का अनुभव करते हो? या अधिक काल नहीं लगता? मान लो कि एक बार अशान्त होने पर अपने मन को एकाग्र करने में तुम्हें बहुत कठिनाई पड़ती है; तो तुम्हें यह न समझ लेना चाहिए कि जन्म से ही तुम्हारे मन की ऐसी स्थिति है और यह सदा उसी अवस्था में रहेगा। नहीं, ऐसी बात नहीं। तुमने अपने मन को आप ही बनाया है और तुम उसे जैसा चाहो वैसा बना सकते हो।

सन् १९३० में जब कि महात्मा गांधी इँगलैंड में थे तो उन्हें अमेरिका के निवासियों को रेडियो (बे-तार के तार) पर एक व्याख्यान देना था। उस सन्ध्या को, जब रेडियो का सब प्रबन्ध किया जा चुका

था और जब व्याख्यान के नियत समय में कुछ मिनट बाकी थे तब तक उन्होंने अपना शाम का अंगूर आदि का भोजन समाप्त नहीं किया था। उनकी मेजबान मिस मुरियल लेस्टर उनके लिये स्वभावतः चिन्तित थीं। केवल पांच ही मिनट के बाद एक सारी की सारी जाति के लिये गांधीजी को व्याख्यान देना था, और अभी आप अंगूर खाने में व्यस्त थे। जरा सोचो कि इस प्रकार के असम्भव व्यक्ति के पास तुम ही हो तो तुम्हारी क्या दशा हो? जिस समय प्रत्येक आदमी खीझ उठा था, उस समय—व्याख्यान के ठीक निश्चित समय पर—अपना अंगूर का भोजन समाप्त कर गांधीजी पास के कमरे में गये और मैक्रोफोन की ओर संकेत करके पूछा कि क्या उन्हें उसमें व्याख्यान देना होगा। ठीक समय पर गांधी जी ने पहला शब्द कहा। वे ४५ मिनट तक बिना किसी बाधा के अपना व्याख्यान देते रहे। उनके पास व्याख्यान का कोई लिखित नोट न था; और उनका वह भाषण उनके भाषणों में से अत्यन्त श्रेष्ठ भाषण समझा जाता है।

गांधीजी के आस-पास के सभी लोग क्यों इतने घबराये थे जब कि वे स्वयं शान्त थे? इसका एक ही उत्तर है कि गांधीजी का मन अत्यन्त एकाग्र है। ऐसे किसी अवसर पर उन्हें जल्दबाजी की जरूरत नहीं।

क्या तुम भी चाहते हो कि तुम्हारा मन ऐसा एकाग्र हो जाय? यदि हां, तो यह तुम्हारे अपने हाथ में है।

कुछ लोग समझते हैं कि प्रतिदिन का काम करते, दफ्तर तथा दुकान का काम करते हुए आभ्यन्तरिक उन्नति की ओर ध्यान देना

असम्भव है। इनका कहना है कि यदि हमें आभ्यन्तरिक उन्नति करनी है तो हमें संसार को छोड़कर या तो किसी जङ्गल में चला जाना चाहिए, नहीं तो किसी आश्रम में।

उत्तर भारत के लोग कुओं से पानी निकालकर खेतों को सींचने के लिये रहट चलाते हैं। इस लकड़ी और लोहे की कल से बड़ी आवाज निकलती है! एक दिन एक घुड़सवार अपने घोड़े को पानी पिलाने के लिये कुएँ पर गया। घोड़ा आवाज से डरता था। इसलिये वह कुएँ के पास नहीं जाता था। घुड़-सवार रहट चलानेवाले से बोला "कृपया जरा आवाज को बन्द करके मेरे घोड़े को पानी पी लेने दें।" उसने कल बन्द कर दी। साथ ही साथ पानी का आना भी बन्द हो गया।

"भले आदमी! आपको चाहिये कि आप एक अतिथि के घोड़े पर दया करें। मैंने आपसे आवाज बन्द करने को कहा, न कि पानी। कृपया घोड़े को जरा पानी पी लेने दें।"

"मैं हृदय से चाहता हूँ कि आपका घोड़ा पानी पिए, लेकिन मुश्किल यह है कि कल को बन्द किये बिना आवाज बन्द नहीं हो सकती और कल बन्द होगी तो पानी बन्द होगा ही। इसलिये अगर आप अपने घोड़े को पानी पिलाना चाहते हैं तो आपको कल के चलते तथा आवाज़ होते रहते वक्त ही घोड़े को पानी पिलाना होगा। अन्यथा उसे पानी पिलाने का दूसरा कोई उपाय नहीं।"

अगर तुम अपने चित्त को कुछ एकाग्र करना चाहते हो तो तुम्हें अपनी इस मौजूदा स्थिति में ही उसका अभ्यास आरम्भ कर देना होगा। ऐसे अवसर की तो सम्भावना ही नहीं जब तुम या कोई और इन सारे "सांसारिक बन्धनों" से मुक्त हो जाय। "सांसारिक बन्धन" तो साधारणतया साधु सन्यासियों को भी नहीं छोड़ते। अन्तर केवल बन्धन के प्रकार का होता है।

अच्छा, तो तुम पूछोगे कि चित की एकाग्रता के लिए क्या अभ्यास करूँ? अभ्यास बहुत सरल है, लेकिन अगले पत्र में लिखूँगा।

तुम्हारा—

आनन्द कौसल्यान

चित्त की स्थिरता

(२)

सारनाथ

२९-८-३६

प्रिय योगेन्द्र,

पिछले पत्र में मैंने वादा किया था कि इस पत्र में मैं तुम्हें चञ्चल चित्त की चञ्चलता को दूर करने वा कम करने के दो-चार उपाय बताऊँगा। पता नहीं, तुम मुझसे क्या आशा लगाये बैठे हो ? मैं तुम्हें न तो हठयोग की कोई क्रिया बताऊँगा न राजयोग की। दो-चार सामान्य बातें जो मेरे अनुभव में आई हैं और जिनसे मुझे स्वयं लाभ पहुँचा है, उन्हें ही लिखूंगा।

सबसे पहली बात जो मेरी समझ में तुम्हें याद रखनी चाहिए वह यह है कि हमारा मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो हमारे शरीर से अलग-थलग बिलकुल पृथक हो—जिसका हमारे शरीर से बिलकुल किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध न हो। हमारे मन की

अवस्था का हमारे शरीर की अवस्था पर प्रभाव पड़ता है, हमारे शरीर की अवस्था का हमारे मन की अवस्था पर प्रभाव पड़ता है इसलिये जब कभी मन खिन्न हो, उदास हो, चिड़चिड़ा-सा हो, तो तुम यदि सबसे पहले अपने शरीर की ओर ध्यान दोगे तो तुम देखोगे कि उसका एक कारण यह है कि तुम्हें रात्रि का भोजन अभी अच्छी तरह हजम नहीं हुआ है। इसलिये ऐसी अवस्था में तुम्हें चाहिए कि तुम उन लोगों की तरह गलती न करो, जो चित्त उदास होने पर घर के किसी अँधेरे कोने में जा बैठते हैं, या चादर ले कर चारपाई पर जा लेटते हैं और समझते हैं कि उदास आदमी रोनी शकल बनाकर बैठे या लेटे रहने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता। अगर बन पड़े तो जब तुम्हें अपने चित्त की वृत्ति कुछ प्रतिकूल वा अवाञ्छित मालूम पड़े तब तुम बाहर खुली हवा में चले जाओ; और अगर आसपास कहीं टहलने की काफी जगह हो तो दो-चार मील का चक्कर लगा आओ। तुम देखोगे कि दो-चार मील का तेज चक्कर लगाने से तुम्हारी श्वास की गति तेज हो जायगी, और इस प्रकार बहुत सी शुद्ध हवा का सेवन करने से तुम्हारी चिन्ता व उदासीनता वैसे ही नहीं रहेगी जैसे गधे के सिर पर सींग।

तुम पूछोगे कि यदि हम किसी ऐसे काम में लगे हुए हैं कि हमें टहलने के लिये जगह और छुट्टी नहीं है, तो उस हालत में हम क्या करें? ऐसी अवस्था में मैं सलाह दूँगा कि तुम कुछ मिनट के लिए किसी हवादार स्थान में जा खड़े हो, और वहाँ जितने सीधे खड़े हो सकते हो, उतने सीधे खड़े हो कर खुली हवा में दस, बीस, पचास, सौ,

दो सौ हलके लेकिन गहरे साँस लो। श्वास को रोकने का प्रयत्न न करो। श्वास के साथ जबर्दस्ती करना सबसे बड़ी गलती है। उसे स्वाभाविक गति से आ जाने दो। ऐसा करने से भी तुम देखोगे कि तुम्हारा चित्त शान्त हो जायगा।

एक और उपाय बताता हूँ। यदि तुमने किसी से बहस की है, या छोटा-मोटा कोई झगड़ा ही हो गया है और तुम देखते हो कि बाहरी बहस और झगड़ा तो दोनों खतम हो गये हैं लेकिन तुम्हारे मन के अन्दर अभी तक बहस चल ही रही है; तुम कोई काम करना चाहते हो लेकिन तुम्हारे मन में ख़यालात का उबाल आ रहा है जो तुम्हें कोई काम नहीं करने देता; तुम चाहते हो कि तुम्हारे दिमाग में यह जो खिचड़ी सी पक रही है यह किसी तरह शान्त हो, लेकिन वह शांत नहीं होती—तो ऐसी अवस्था में तुम दस बीस मिनट के लिये एक छोटा सा अभ्यास करो। अभ्यास बहुत सरल है। उन दस-बीस मिनटों में यदि तुम्हें दो-चार कदम चलना है तो और सब ओर से मन हटाकर केवल चलने पर ध्यान जमा दो। कदम उठाओ और मन में गुनगुनाओ "मैं चल रहा हूँ"। लेकिन यह मन में गुनगुनाना कुछ लोगों के राम-नाम-जाप की तरह न हो कि "जबान कहीं मन कहीं"। दो ही मिनट, चार ही मिनट सही; जितनी देर चलो, अथवा कुछ भी और करो, मन में निरन्तर यह बात रक्खो कि इस समय मैं यह क्रिया कर रहा हूँ। चलना फिरना, उठना, बैठना, लेटना आदि साधारण क्रियाएँ जिनके करने का हमको इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि हम उनकी ओर ध्यान दें न दें, वह स्वयं ही हो जाती हैं, वैसी सब क्रियाओं को ध्यान देकर

करने की कोशिश करो। कुछ ही मिनट के अभ्यास से तुम्हारा मन शान्त हो जाएगा। इस अभ्यास में मानस-शास्त्र का एक बड़ा तत्त्व छिपा हुआ है। उस तत्त्व की व्याख्या कभी किसी दूसरे समय सही। अभी मैं यही चाहता हूँ कि तुम इस अभ्यास को करो और इसके बारे में, जिसे मैंने स्वयं बहुत उपयोगी पाया है और जिसकी भगवान् बुद्ध ने बड़ी प्रशंसा की है, कभी कभी अपना अनुभव मुझे लिखो।

यह जो मैंने दो तीन उपाय बताये हैं, यह ऐसे हैं कि जिनका असर तो तुरन्त होता है; लेकिन जो मन की चञ्चलता की बीमारी के स्थायी इलाज नहीं कहे जा सकते। इसलिये एक ऐसा भी उपाय लिखता हूँ जिस पर कुछ दिन अमल करने से मन में ऐसी शक्ति आ जायगी कि ऐसे साधारण कारणों से, जिनसे सामान्य मनुष्य अस्थिर हो उठता है, तुम अस्थिर होगे ही नहीं। वह उपाय क्या है? आज ही तुम एक छोटी सी नोट-बुक बना लो, जिसे निरन्तर कोट की जेब में रख सको। और जब कोई अच्छी पुस्तक पढ़ो और उसमें कोई काम की पंक्तियाँ दिखाई दें, उन्हें तुरन्त अपनी कापी में नोट कर लो। 'काम की पंक्तियों' से मेरा मतलब उन पंक्तियों से है जिन्हें पढ़कर आदमी यदि उदास हो तो उदासी घट जाय, खिन्न हो तो खिन्नता चली जाय, अथवा अस्थिर हो तो अस्थिरता न रहे। ऐसी पंक्तियाँ तुम्हें सभी सद्ग्रन्थों में मिलेंगी। धम्मपद ऐसी पंक्तियों का भण्डार है लेकिन वह पाली में है। मूल पाली शायद अभी अच्छी तरह समझ में न आये, इसलिए अनुवाद पढ़ो अथवा अन्य ऐसे ग्रन्थों को पढ़ो जिन्हें समझ सकते हो। लेकिन जो कुछ पढ़ो, उसमें जहां तुम्हें कुछ ऊपर उठाने-

वाली पंक्तियां मिलें उन्हें अपनी नोट-बुक में नत्थी करने से बाज़ न आओ। अब इस नोट-बुक को सदा अपने पास रक्खो। जब देखो कि चित्त में किसी प्रकार की भी मलिनता वा खिन्नता डेरा जमाने जा रही है, तुरन्त इस नोट-बुक को निकालकर उसमें लिखी पंक्तियों वा पद्यों को मन में गुनगुनाओ और गुनगुनाते रहो जब तक मन शांत न हो जाय। एक बार शान्त होने पर दृढ़ निश्चय करो कि अब भविष्य में सावधान रहोगे और मन को यों ही अशान्त न होने दोगे। ऐसा निश्चय करने पर भी मन चंचल तो कभी-कभी होगा ही; लेकिन अगर तुम्हारा निश्चय बलवान है तो मन की चंचलता पहले की अपेक्षा कुछ निर्बल अवश्य हो जाएगी। देखो, दो, चार बार परीक्षा करके देखो। तभी तुम समझोगे कि यह सीधा-सादा अभ्यास कितना कल्याणकारी है।

हाँ, जरा कुछ हँसने-हँसाने का भी अभ्यास बढ़ाओ। कोई तुम्हारी टीका-टिप्पणी करे तो उसमें हँसी मजाक की सामग्री ढूंढ़ना सीखो। योंही छुईमुई के पेड़ की तरह जरा जरा सी बात पर कुम्हलाना या चिढ़ना मनुष्य को शोभा नहीं देता। कहते हैं कि इँगलैंड के कोई एक बड़े पदाधिकारी एक बार जर्मनी में घूम रहे थे। किसी ने उनके कपड़े पहनने के ढंग में कुछ दोष देखकर कहा कि ज़रा यह ऐसे होता तो ठीक था। वह बोले "मैं किसी तरह पहनूँ; यहाँ मुझे जानता ही कौन है?" उसी आदमी ने फिर एक बार, जब वह इङ्गलंड में थे, दोष निकाला। तुरन्त जवाब मिला—मैं किसी तरह पहनूँ, यहाँ मुझे सभी जानते हैं।

क्रोध आने के छोटे-छोटे अवसरों को तो आदमी को समझना चाहिए कि यह उसके अभ्यास की सीढ़ियाँ हैं। एक साहब एक महा-मूर्ख नौकर को खास इसीलिये नौकर रक्खे हुए थे, मासिक वेतन देते थे कि वह अपनी बेवकूफियों से मालिक के लिये गुस्से होने के मौके पैदा करता रहे और मालिक अभ्यास करते रहें कि उनको कभी गुस्सा न आवे।

यदि आदमी के लिये गुस्से होने का अवसर ही न आवे, तब तो सभी "शान्तचित्त" हैं। सच्चा शान्त-चित्त तो वह है जो क्रोध का अवसर आने पर क्रोधित नहीं होता।

तुमसे मुझे डर लगता है, इसलिये पत्र समाप्त करने से पहले एक बात खास तौर पर कह देना चाहता हूं। उसे ध्यान में रखना। कोई-कोई आदमी अपना स्वास्थ्य केवल इसलिये चौपट कर लेते हैं कि वह स्वस्थ रहने की अत्यधिक चिन्ता करने लग जाते हैं। इसी प्रकार मुझे डर है कि कहीं तुम हाथ धोकर "शान्त-चित्त" होने के पीछे न पड़ जाओ। खयाल रक्खो कि अगर कोई छोटी आयु का लड़का यह चाहे कि उसको दाढ़ी-मूंछ जल्दी आ जाय और वह सुबह उठकर रोज अपने मुँह को रगड़ा करे, तो ऐसा करने से उसे दाढ़ी मूँछ न आएगी। उसके लिए सर्वोत्तम उपाय है कि वह नियमित शुद्ध भोजन करे, नियमित व्यायाम करे और मूँछों के लिये बे-सबर न हो। समय आने पर उसे दाढ़ी-मूँछ स्वयं आ जाएगी। इसी प्रकार यदि तुम नित्यप्रति कुछ न कुछ सात्विक साहित्य पढ़ते रहोगे; और उसमें लिखी बातों

को अपने दैनिक जीवन में उतारने की कोशिश करोगे, तो तुम हैरान होगे कि दिन प्रति दिन तुम्हारी शान्ति और शक्ति दोनों बड़ी तेजी से बढ़ रही हैं।

जहाँ सच्ची शान्ति है, वहीं सच्ची शक्ति और जहाँ सच्ची शक्ति है वहीं सच्ची शान्ति।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन

पुनश्च—यह सुनकर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि हमारे दो-तीन भाई, जो सिंहल गए हुए थे, परसों सारनाथ लौट आए हैं।

अनात्मवाद

प्रिय योगेन्द्र,

सारनाथ

१५-१२-३६

बहुत दिनों से जो तुम्हें पत्र नहीं लिखा, उसके दो कारण हैं। एक तो मूलगन्ध कुटी विहार के पांचवें वार्षिकोत्सव में बझे रहना और दूसरा तुम्हारा अनात्मवाद-सबन्धी प्रश्न। अनात्मवाद सचमुच आसानी से समझ में आने वाला सिद्धान्त नहीं और है इतना महत्व-पूर्ण कि यदि मुझसे एक शब्द में सारा बुद्ध-धर्म कह देने के लिये कहो, तो मैं कहूँगा 'अनात्मवाद।' तुम कहोगे, कि तब तो बुद्ध-धर्म के किसी भी प्रेमी को इसे बहुत ही अच्छी तरह समझना चाहिये। हां, और अवश्य। लो, मैं अपनी ओर से जैसे मैंने उसे समझा है—

तुम्हें मोटा-मोटी लिख भेजता हूँ। जो बात समझ में न आए, अथवा जिस किसी पहलू पर विशेष शङ्का हो, उसे पूछ ही लोगे।

अनात्मवाद के वर्णन से पहले क्या आत्मवाद का थोड़ा जिक्र कर देना अच्छा न होगा ? उससे तुम्हें अनात्मवाद अधिक स्पष्ट हो सकता है। आत्मवाद के अनुसार जब हम किसी वस्तु या व्यक्तित्व का विचार करते हैं तब हम दो परिणामों पर पहुंचते हैं। (१) यह कि प्रत्येक वस्तु वा व्यक्ति के गुणों से पृथक उस वस्तु या व्यक्ति के गुणों का धारण करने वाला एक गुणी है; और उस गुणी तथा उस वस्तु वा व्यक्ति के गुणों के मेल से ही वस्तु-विशेष वा व्यक्ति-विशेष का अस्तित्व है। उस गुणी को हम उस वस्तु वा व्यक्ति का आत्मा कह सकते हैं। (२) जितने भी कार्य किसी वस्तु वा व्यक्ति द्वारा किये गए समझे जाते हैं, उन सबका वास्तविक कर्ता, भोक्ता वह आत्मा ही है। उदाहरण से इसे यों समझो कि मोहन लिखता है। अब पहला प्रश्न यह है कि मोहन क्या है ? आत्मवाद के अनुसार मोहन के आत्मा ने—जो मोहन की बुद्धि, वा इन्द्रियों को धारण किया हुआ है वही मोहन है। अब दूसरा प्रश्न यह है कि मोहन लिखता है, तो कौन लिखता है ? क्या मोहन का हाथ लिखता है ? नहीं। क्या मोहन की बुद्धि लिखती है ? नहीं। तो वास्तव में कौन लिखता है ? मोहन का हाथ तथा बुद्धि ? वे नहीं लिखते, मोहन का आत्मा लिखने में उनका उपयोग करता है। मोहन का आत्मा स्वामी है वे नौकर। मोहन का आत्मा मालिक है, वे गुलाम।

और जब हम कहते हैं 'मोहन जन्म लेता है, मोहन मरता है' तो

उसका भी यह मतलब है कि मोहन का आत्मा अपने एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे एक आदमी एक वस्त्र को छोड़कर दूसरा वस्त्र धारण करता है। कौन हिन्दू व्याख्यानदाता है जिसने अपने व्याख्यान में कभी न कभी गीता का यह प्रसिद्ध श्लोक न कहा हो—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

आत्मवादी दर्शनों में आपस में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। ईसाई और मुसलमान ऐसे आत्मा = रूह में विश्वास करते हैं, जिसका पुनर्जन्म नहीं होता। जैन-दर्शन के मानने वाले ऐसे आत्मा में विश्वास करते हैं, जिसका पुनर्जन्म होता है लेकिन जो शरीर के छोटे-बड़े होने के भेद से घट बढ़ सकता है। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा, जिसे वह पुरुष कहता है सर्व-व्यापी है–न घटता है, न बढ़ता है। वेदांत के अनुसार आत्मा = परमात्मा = ब्रह्म ही सब कुछ है। जगत मिथ्या है। वास्तव में है ही नहीं। ये मोटे-मोटे भेद हैं—अत्यन्त मोटे। बारीक भेद तो इतने हैं और उनमें इतना बारीक भेद है कि मैं इस चिट्ठी में सबका उल्लेख करने का साहस कर ही नहीं सकता। एक बात, जो सभी आत्मवादियों में समान है, यह है कि वे मन-बुद्धि से परे की किसी सत्ता को स्वीकार करते हैं, और मानते हैं कि वही अच्छे-बुरे कार्यों की कर्त्ता तथा भोक्ता है। यही है थोड़े में आत्मवादियों का मत।

अब इसी एक उदाहरण पर अनात्म-वादी बुद्ध-धर्म की दृष्टि से विचार करो। तुम कहते हो कि मोहन लिखता है—इस कथन में मोहन क्या है ? अनात्मवाद के अनुसार इसका उत्तर है कि रूप-वेदना संज्ञा-संस्कार तथा विज्ञान नाम के जो स्कन्ध हैं, उन्हीं स्कन्धों के समूह को हम अपने व्योहार की आसानी के लिये मोहन कहते हैं। वास्तव में कोई ऐसा एक अस्तित्व नहीं जिसको मोहन कहा जा सके। जिस प्रकार एक रथ के भिन्न-भिन्न अवयवों के समूह को हम अपने व्यवहार की आसानी के लिये रथ कहते हैं। यद्यपि उन अवयवों से पृथक् कोई एक ऐसा अवयव है नहीं जिसे हम रथ कह सकें; ठीक उसी प्रकार अपने व्यवहार को आसानी के लिये छः इन्द्रियों (=मन भी एक ही इन्द्रिय है) के समूह को हम मोहन कहते हैं।

अब प्रश्न होता है कि जब मोहन है ही नहीं, तो फिर हमारा यह कहना कि मोहन लिखता है, निरर्थक है ? हाँ, परमार्थ दृष्टि से यह कहना कि 'मोहन लिखता है, सचमुच बे-मतलब है। अनात्मवाद के अनुसार वास्तविक सचाई यह है कि प्रत्यय-विशेष के हेतु से क्रियाएं होती हैं। जब हमारा अपना अभिमान, हमारी अपनी आत्म-दृष्टि हम को भ्रम में डाल देती है, तब हम कहते हैं कि "मोहन लिखता है', इत्यादि। वास्तव में लिखना होता है, लेखक होना नहीं होता। लिखना प्रत्यय का फल है, लेखक (की भ्रान्ति) अविद्या का फल।

उपनिषत्कार कहते हैं 'न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं-विद्यात्' (दे० कौशीतकी उपनिषद), जिसका मतलब है कि 'वाणी की खोज न करो, वक्ता को जानो; रूप, कर्म, चित्त के जानने का उद्योग न करो,

द्रष्टा, कर्ता तथा मनन करने वाले (=आत्मा) को जानो।' और बुद्ध क्या कहते हैं ? देखो, वे इसके सर्वथा प्रतिकूल हैं। उनसे जब पूछा जाता है कि "भन्ते ! आप कहते हैं स्पर्श करता है, स्पर्श करता है, कौन स्पर्श करता है ? (भन्ते ! फुस्सति फुस्सतीति वुच्चति, को फुस्सति ?) तो वे उत्तर देते हैं—"यह तुम्हारा प्रश्न ही गलत है कि कौन स्पर्श करता है ? (न कल्लोयं पञ्हो को फुस्सतीति) प्रश्न ऐसे होना चाहिये कि किस प्रत्यय (=हेतु से स्पर्श होता है ? सो छः आयतनों के होने से स्पर्श होता है। यदि छः आयतन न हों तो स्पर्श न हो। स्पर्श के होने से वेदना होती है, वेदना के होने से तृष्णा होती है। तृष्णा के होने से उपादान होता है। उपादन के होने से भव होता है। भव के होने से पैदा होना, बूढ़ा होना, मरना तरह तरह के दुख होते हैं।

इसलिये बात (जरा गम्भीर होने से) तुम्हें विचित्र सी मालूम देगी, लेकिन जब तुम इसे समझने की कोशिश करोगे तो शनैः शनैः यह बात तुम्हारी समझ में आयेगी कि कैसे यह सब से बड़ी सचाई है कि—"मार्ग तो है, चलने वाला नहीं; कार्य तो है, करने वाला नहीं"।

तब तुम पूछोगे कि यदि वास्तव में कोई करने वाला =आत्मा= पुद्गल कुछ है ही नहीं, तब यह पाप-पुण्य का सारा झगड़ा किस काम था ? यह घर-बार छोड़ना व्यर्थ ? यह भिक्षु बनना व्यर्थ ? यह निर्वाण के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ? यह निर्वाण पाना व्यर्थ ?

हाँ, तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक है। जब मनुष्य की आत्मा-दृष्टि न हो, तो उसके लिये पाप-पुण्य का कोई झगड़ा बाकी नहीं रह जाता। यह घर बार छोड़ना, यह भिक्षु बनना यह दुष्कर्मों से बचने का प्रयत्न करना सब उसी के लिये है जो आत्मा—दृष्टि के बन्धन से बँधा है।

अब तुम यह भी पूछोगे कि जब आत्मा नहीं, तो फिर पुनर्जन्म कैसे मानते हैं? मैं पूछता हूँ कि जब "आत्मा" है तभी लोग पुनर्जन्म कैसे मानते हैं? यही कहोगे न कि 'आत्मा' एक शरीर से दूसरे शरीर में चली जाती है। अब मैं पूछता हूँ कि "आत्मा जाती है" ऐसा क्यों मानते हो? मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कारों का वहन करने के लिये ही यह कल्पना की है न कि आत्मा जाती है? यदि आत्मा संस्कारों की वाहक है तब वह नित्य रही वा अनित्य? यदि नित्य तो वह संस्कारों का वहन कैसे करती है? यदि अनित्य, तो उसमें और मन में क्या अन्तर है? तमाम इन्द्रियों के कार्य्यों में सामञ्जस्य लाने के लिये मनन्द्रिय की आवश्यकता तो माननी ही पड़ती है, लेकिन मन के परे आत्मा की क्या आवश्यकता और उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण?

और तुम जो यह समझे बैठे हो कि बिना आत्मा के पुनर्जन्म नहीं हो सकता उसमें तो तुम्हारी पुनर्जन्म की कल्पना ही मुख्य बाधक कारण है। बुद्ध-धर्म मानता है कि चित्त-प्रवाह (=सन्तान) निरन्तर बहता रहता है। मनुष्य अच्छा वा बुरा जैसा कर्म करता है, वैसा ही अच्छा या बुरा उसका मन साथ-साथ बनता रहता है। (मनमें अच्छे

वा बुरे कर्म करने की योग्यता लाये बिना मनुष्य से कोई अच्छा बुरा काम हो नहीं सकता।) जब तक अच्छे-बुरे कर्म होते रहते हैं, तब तक यह चित्त-सन्तान बहता रहता है। जब अच्छे बुरे कर्म होने बन्द हो जाते हैं, चित्त सन्तान का निरोधहो जाता है। हम लोग जो अज्ञान-वश जन्म और मृत्यु के बीच के इस जीवन को ही बहुत कुछ समझे बैठे हैं वह इस निरन्तर बहती रहने वाली चित्त धारा को अपना मरना और फिर पैदा होना (पुनर्जन्म) समझते हैं; वास्तव में चित्त-धारा केवल गतिमान है, जिसमें न मरना है न जीना है। एक उदाहरण से शायद बात स्पष्ट हो। बनारस स्टेशन से जो रेल गाड़ी चली है, वह अपनी दृष्टि से केवल चलती रहती है; लेकिन बीच-बीच में स्टेशनों पर जो लोग रहते हैं; उनकी दृष्टि से वह गाड़ी उन उनके स्टेशन-विशेष पर आती जाती हैं। यह हमारे साठ, सत्तर, अस्सी वर्ष के जीवन स्टेशनों की तरह हैं और चित्त संतति का प्रवाह निरन्तर चलती रहने वाली गाड़ी के समान। चित्त सन्तति परिवर्तनशील है। इसलिए वह बुरे कर्मों के प्रभाव से जहाँ खराब हो सकती है, वहां सत्कर्मों के प्रभाव से अच्छी हो सकती है—लेकिन आत्मा के बारे में तो तुम ऐसा नहीं कह सकते ?

आत्मवादी एक बात प्रायः कहा करते हैं। पत्र समाप्त करते-करते उसका भी उल्लेख कर दूं। वे पूछा करते हैं कि आत्मा मान लेने में ही क्या हर्ज है ?" हमारा कहना है कि भगवान् बुद्ध ने हमें उपदेश दिया है कि मन सब बातों का मूल है। उसकी ओर से यदि लापर-वाही की जाए, तो वह हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। उसको सँभाल

कर रक्खा जाय, तो वह है हमारा सबसे बड़ा मित्र। जीवन का कोई ऊँचे से ऊँचा उद्देश्य नहीं जिसे हम मन की साधना द्वारा न प्राप्त कर सकें। ऐसी हालत में मन से परे किसी आत्मा की कल्पना करने की न तो हम कोई आवश्यकता देखते हैं, न उपयोगिता। जो समझते हों, वे करें।

तुम्हारा—

आनन्द कौसल्यायन

चारिका (१)

केलाङ्ग

३-६-३७

प्रिय योगेन्द्र,

पिछले नहीं परार के साल जब मैं पीनाङ्ग से लौटा था तो गर्मियों के दिनों में स्वर्गीय पण्डित शिवनारायण "शमीम" ने मुझे लिखा कि मैं उनके पास डल्हौज़ी चला आऊँ। मैंने लिख भेजा कि मैं कई साल से गर्मी के दिनों में बाहर ही रहा हूँ। और यदि इस साल भी गर्मी से घबरा कर डल्हौज़ी चला आया तो दिल में हमेशा के लिये ग्रीष्म ऋतु का डर बैठ जायगा और मैं हर साल पहाड़ खोजा करूंगा, इस लिये न आऊँगा। सन् ३५ और ३६ की गर्मियाँ सारनाथ में ही कटीं।

सन् ३६ के आरंभ में मैं सिंहल में था। लेकिन क़िस्मत की खूबी देखो ठेठ गर्मी के दिनों में सारनाथ चला आया। इस साल जब श्रद्धेय राहुल जी महाबोधी-विद्यालय-भवन के शिला-न्यास के उत्सव पर सारनाथ आये तो मैं उनसे यों ही पूछ बैठा कि आप लाहुल अकेले ही जा रहे हैं वा कोई और भी साथ है? बोले—अकेला ही जारहा हूँ।" "साथ चलूँ" मैंने पूछा। बोले—चलो। साथ चलने का निश्चय हो गया।

१ मई को चार बजे की गाड़ी से मैं और श्री बैरण्टनामा सारनाथ से चले। बनारस में राहुल जी और उनके साथ श्री उदयनारायण त्रिपाठी स्टेशन पर मिले। इलाहाबाद बनारस से साढ़े चार घन्टे का रास्ता है; लेकिन बैरण्टनामा बीच बीच में ऐसी बातें सुनाते थे कि चार घन्टे की कौन कहे चार रातें कुछ न मालूम हों। "एक रेलगाड़ी कलकत्ते से छूटी; रास्ते में बिजली गिरने से या कैसे ड्राइ-वर मर गया। अब गाड़ी कैसे रुके? किसकी हिम्मत थी कि उसे रोके! सभी स्टेशनों पर लाइन किलियर देते रहे। आख़ीर जब इञ्जिन का आग पानी खतम होगया, तब वह चार सौ मील पर अपने जाकर रुकी।" ख़ैर यही हुई कि हमारी बी. एन. डब्ल्यु रेलवे के साथ कोई ऐसी दुर्घटना नहीं घटी। हम यथा समय दारागंज स्टेशन पर उतरे।

२ मई को इलाहाबाद ला० जर्नल प्रेस में काम था। खुद्दक-निकाय (पाली) की ११ पुस्तकें एक साथ नागरी अक्षरों में छप रही हैं। भाई जगदीश काश्यप के "मिलिन्द प्रश्न" का हिन्दी अनुवादछप रहा है। राहुल जी की "पुरातत्त्व-निबन्धावलि" का प्रिन्ट आर्डर दिया जाने वाला है। बौद्धन्याय-दर्शन की संस्कृत की कई पुस्तकें छप रही हैं। और

हाँ, मैंने भी एक छोटी सी पुस्तिका तैयार की है "बुद्ध-वचन"। इन्हीं सब के सम्बन्ध में प्रेसवालों को आवश्यक बातें कहनी सुननी थीं। दिन में सब कार्य्य समाप्त करके ५ बजे की गाड़ी से दिल्ली के लिये रवाना हुये।

प्रातः काल गाड़ी दिल्ली पहुंची। स्टेशन से तांगा किया और नई दिल्ली में प्रो० सुधाकर एम० ए० के यहाँ गये। प्रोफ़ेसर साहब को तो तुमने न देखा होगा लेकिन उनकी लिखी हुई "मनोविज्ञान" नामक पुस्तक अवश्य देखी होगी। हिन्दी में तो "मनोविज्ञान" पर शायद वही सबसे अच्छी पुस्तक है।

दिल्ली में दो दिन ठहर कर राहुल जी तो सीधे लाहौर चले गये, मैं रास्ते में एक दूसरी जगह उतर जाने के कारण एक दिन बाद पहुंचा। ७ तारीख़ को जात-पाँत तोड़क मण्डल की ओर से लाजपत-राय भवन में राहुल जी का एक व्याख्यान होना निश्चित होगया था। इसलिये हम ८ तारीख़ से पहले लाहौर न छोड़ सके। पठानकोट तक रेलगाड़ी में किसी न किसी मुसाफिर से कुछ न कुछ चर्चा होती चली। रात को कोई नौ बजे गाड़ी पठान कोट पहुँची। बारह साल पहले मैं एक बार ज़िला कांगड़े में रह चुका हूँ। उस समय पठानकोट से आगे रेलगाड़ी न थी। योगेन्द्र नगर—तुम्हारा ही नगर है न ?—तक रेलगाड़ी इधरही बनी है। इसलिये मैं ज़रा इसमें सफर करने को उत्सुक था। पठानकोट पहुँचने पर जब हम लोग एक कुली की मदद से इस गाड़ी में लदे तब पता लगा कि इस गाड़ी में आदमियों तथा माल असबाब में कोई फ़र्क नहीं किया जाता। योगेन्द्र नगर से इधर गाड़ी में से कुछ

डिब्बे काट लिए गए। और उन डिब्बों में बैठे हम मुसाफिरों से गाड़ी के बाकी डिब्बो में-जो पहले ही ठसा ठस भरे थे—किसमत आज़माई करने के लिये कहा गया। कुम्भ के मेले पर जो हालत इलाहाबाद जाने वालों की होती है कुछ कुछ वही हालत हमारे डिब्बों की थी। फर्क इतना ही था कि कुम्भ के मेले पर रेल में आदमी ही ठूसे जाते हैं और इसमें आदमी और सामान दोनों एक दूसरे से अधिक ठूसे गये थे। ख़ैर जैसे तैसे हम लोग योगेन्द्र-नगर पहुँचे।

मण्डी जाने के लिये एक मोटरलारी आई। सामान और उसके मालिक लदे। हमने सुना था कि इसके बाद एक दूसरी-मोटर-लारी छूटेगी। उसमें ज़रा आदमियों की तरह बैठ सकने की उम्मीद में हम रह गये। मोटरलारी के चले जाने पर पता लगा कि दूसरी लारी २ बजे से पहले न छूटेगी।

८ बजे से २ बजे तक का समय योगेन्द्र-नगर में काटना पड़ा। मैं तो प्रसन्न ही था, रात भर के सफ़र की थकावट के बाद कुछ आराम मिल गया।

२ बजे मोटर लारी चली। इसमें इतनी जगह थी कि मैं एक प्रकार से सोया और लेटा रहा। लेकिन यह मेरा लेटा रहना कुछ महँगा पड़ा। क्योंकि जब उतराई आई तो टांगें ऊपर हो गईं और सर नीचे। मेरे लिए यह अच्छा न हुआ। शाम होते होते मण्डी पहुँचे। ब्यास नदी का पुल पार करने पर एक एक मुसाफिर से एक एक पैसा उगाहा गया। दरिया और उसके चारों ओर का दृश्य अत्यन्त सुन्दर था।

लेकिन लारी के पेट्रोल की बदबू के मारे कोई चीज़ मुझे एक आँख न भाती थी। यही मनाता था कि कब लारी से उतरें। आख़िर उतरना था उतरे और रात भर मण्डी के एक होटल में जिसका नाम शायद कैलाश था—रहे।

आज दस तारीख़ थी। अभी चालीस मील से ज्यादह मोटरलारी में जाना था। लेकिन चूंकि आज ही कुल्लू पहुँच जाने की उमीद थी; और वक्त सुबह का था, इसलिए मुझे आज का मण्डी से कुल्लू तक का सफर उतना नागवार नहीं गुज़रा जितना कल का। १२ बजे के करीब जब कुल्लू पहुँचे तो मुझे बड़ी खुशी इस बात की हुई कि अब कुछ अर्से तक मोटर लारी की सवारी से जान बची रहेगी।

मोटर लारी की सवारी से मेरी यह नफरत खास है, बहुत दिनों से है। यदि कल योगेन्द्र-नगर में हम आठ बजे की लारी को न छोड़ते तो हम कल ही कुल्लू पहुँच जाते। इसलिए कल ही से ठाकुर मंगल चन्द और ठाकुर पृथ्वीचन्द हमारा इन्तजार कर रहे थे। मिल कर परस्पर प्रसन्नता हुई।

१० से १८ मई तक एक सप्ताह कुल्लू में ही रहे। मैंने अल्मोड़ा या श्री-नगर नहीं देखा है। इसलिए कह नहीं सकता कि उन स्थानों की तुलना में कुल्लू की दून (Valley) कितनी सुन्दर है। लेकिन यदि सौन्दर्य्य का किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी स्वीकार कर लिया जाए तो मुझे कहना होगा कि कुल्लू की दून सचमुच एक सुन्दर स्थली है। रोज शाम को हम ब्यास नदी

के साथवाली सड़क पर तीन-चार मील तक घूमने जाते और जब लौटते तो कुल्लू के एक दो सज्जनों को अपनी प्रतीक्षा करते पाते। घण्टे दो घण्टे धर्म-चर्चा रहती जिसमें राहुल जी के वर्षों के अध्ययन और मनन का सार होता। बड़ा मजा आता इन खुले प्रश्नोत्तरों में।

इसी बीच हम दो दिन के लिये "उरूसवति" भी हो आए। प्रो० रोएरिक का नाम तो तुमने सुना ही है। कितने बड़े रचना-शील विचारक हैं। वे अपने सहायक कार्य्य-कर्त्ताओं के साथ सपरिवार यहीं कुल्लू से ११ मील के फासले पर नगर में रहते हैं। उन्होंने अपनी हिमालयीय खोज संस्था (Himalyan Research Institute) के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से एक बहुत ही मनोहारी स्थान चुना है। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री जोर्ज रोएरिक अनेक भाषा-विद हैं। जिस दिन हम पहुँचे, उसी दिन वह शायद राहुल जी का "तिब्बत में बौद्ध धर्म" पढ़ रहे थे। तिब्बती भाषा के वह पण्डित हैं और फर फर बोलते हैं। श्री० जोर्ज रोएरिक के अनुज अपने पिता की भांति एक ऊँचे दर्जे के चित्रकार हैं। जब मैं पेरिस में था, तो रोएरिक—इन्सटिटयूट के पैरिस-स्थित प्रतिनिधि ने आपका बनाया हुआ एक चित्र मुझे दिया था। आपसे साक्षात् करके बड़ी प्रसन्नता हुई।

माता रोएरिक अत्यन्त एकान्तप्रिया हैं। हमें आपके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। अपने पति और पुत्रों की भाँति आप की भगवान् बुद्ध और उनकी शिक्षाओं में बड़ी श्रद्धा है। बुद्ध धर्म पर आपने एक पुस्तक लिखी है। हां उस पर अपना नाम नहीं दिया।

हिमालय-खोज-संस्था एक ऐसी जगह है जहाँ से हिलने को आदमी का जी नहीं चाहता। देवदार की शीतल छाया में शान्ति पूर्वक बैठ कर अध्ययन और मनन करने की ऐसी सुविधा बहुत कम जगहों पर है। समय समय पर यहाँ के विभिन्न-देशों से प्रसिद्ध रिसर्च स्कालर आते हैं और अपने विषयों में—कोई पुरातत्त्व-विषयक, कोई वनस्पति-विषयक, खोज का कार्य करते हैं। "उरुसवति" नामक वार्षिक पत्रिका में, जिसके कुल तीन या चार ही अङ्क निकले हैं यहाँ के कार्य्य का विस्तार छपता रहता है।

हाँ, तो हम नगर में आये थे शाम को कुल्लू लौट जाने के लिये, लेकिन तीन दिन तक यहीं का आनन्द लूटते रहे। शेष वृत्तान्त अगले पत्र में।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यायन

चारिका (२)

केलाङ्ग

१०—६—३७

प्रिय योगेन्द्र,

कुल्लू तक पहुँचने का समाचार मैं पिछले पत्र में दे चुका हूँ। १८ तारीख को हम कुल्लू से केलाङ्ग के लिये रवाना हुए। आज फिर मोटर-लारी की बारी थी। हम दोनों (राहुलजी और मैं), ठा० मङ्गल-चन्द, ठा० पृथ्वीचन्द तथा उनका छोटा कुत्ता दुम्बो—पाँचो जने दोपहर को कोई दो बजे लारी में सवार हुए। रास्ता व्यास के किनारे-किनारे ही था। उसकी घरघराती आवाज़ और चारों ओर की ठण्डी हरि-याली के कारण मन कुछ ऐसा लगा रहा कि लारी का सफ़र और पेट्रोल

की बदबू कुछ भूली ही सी रही। कटराइन में—जहाँ हमारी लारी कुछ देर के लिए डाक लेने को ठहरी (यों भी उसे ठहरना था क्योंकि इधर सड़क कम चौड़ी है और एक वक्त एक ही तरफ से घड़ी देखकर गाड़ियाँ छोड़ी जाती हैं)—राहुलजी को उनके एक टशीलुम्पो वा ल्हासा के परिचित भिक्षु दीख पड़े। पहचानकर झट बुलवाया। जितनी देर मोटर वहाँ खड़ी रही, राहुलजी की उनसे पहले हिन्दी में और फिर तिब्बती में गहरी छनती रही। शाम से कुछ पहले हम लोग मनाली से कोई दो मील इधर ही हरिपुर में उतरे। यहाँ ठाकुर मङ्गलचन्द की कोठी है, जिसके चारों तरफ अत्यन्त सुहावना दृश्य है। कुछ देर विश्राम करके पास के गाँव में कार्तिकेय का मन्दिर देखने गए। वहाँ एक आदमी के सिर पर देवता आता था। कुछ धूप-वत्ती, फूल छिटककर देवता को बुलाया गया। राहुलजी ने पूछा—"व्यास नदी का प्रवाह कब उल्टेगा ?" और भी इसी तरह के सवाल। देवता की अक्ल मारी गई। बिचारा समझता होगा कि यही मुकद्दमे या बीमारी या चोरी के सवाल पूँछे जायेंगे। उसे क्या खबर कि ऐसे भी सवाल पूछनेवाले लोग दुनिया में हैं। एक घर के पास से गुजर रहे थे। एक तरुण धड़ाम से छत पर से लोट-पोट नीचे गिरा। खैरियत इतनी ही हुई कि लकड़ी का मकान बहुत ऊँचा न था और जिस जगह वह गिरा, ठीक वहाँ कोई पत्थर न था। यह लुगड़ी (जौ या चावल की कोई तरह की देशी शराब) की महिमा थी। ठाकुर मङ्गलचन्द जहाँ जरा देर के लिये खड़े हो जाते थे, तरह-तरह के रोगी उन्हें घेर लेते थे—दवाई चाहिये। उस दिन मैंने अपनी डायरी में लिखा—

"रोग,—दरिद्रता,—मिथ्याविश्वास— यही ग्रामीण-जीवन है। जिससे कुछ आशा हो उसके सामने गिड़गिड़ाना, जिससे कुछ आशा न हो उसकी ओर आंख उठाकर भी न देखना; यही इधर के लोगों की जीवन फिलासफी है।"

१९ तारीख को हरिपुर से चले अपराह्न में और पैदल। दो मील पर मनाली थी। एक संन्यासी ने अपनी कुटिया में बैठने और चाय पीने का आग्रह किया। हम नहीं ठहरे। आगे एक दूकान पर से एक कुली का इन्तजाम कर व्यास के किनारे-किनारे चले। यात्रा का ठीक आनन्द मुझे आज पहली बार आया। न मोटर-लारी की जल्दबाजी न पेट्रोल की बदबू। आगे-आगे हमारे तीन कुली थे और पीछे हम तीनों। थोड़ी बूँदा-बाँदी शुरू हुई—मैंने अपना बर्मा छाता खोला। ठण्डी ठण्डी हवा चल रही थी—वैसे ही आराम से जैसे हम लोग। चीड़ और देवदार के वृक्षों के कारण चारों ओर सौन्दर्य बरस रहा था। आगे थोड़ी चढ़ाई शुरू हुई लेकिन कल आनेवाली चढ़ाई का ख्याल कर इसे कोई 'चढ़ाई' नहीं मानता था। ठाकुर मङ्गलचन्द, जगह जगह बताते चलते थे कि यहाँ इतने आदमी पत्थर से दबकर मरे और यहाँ बर्फ से। उनकी यह बातें इस प्रदेश के बारे में जानकारी बढ़ानेवाली होने पर भी मुझे रङ्ग में भङ्ग मालूम देती थीं। शाम को एक गांव में ठहरे। एक-दो मील और आगे जा सकते थे; लेकिन यहाँ से कल की कड़ी चढ़ाई के लिये दो नये कुली और लेने थे। ठा० मंगलचन्द चाहते थे कि कुलियों का बोझ हलका रहे।

२० तारीख को सुबह सात-साढ़े सात बजते ही डेरा कूच कर दिया गया। ठाकुर साहब के नौकर किरपाराम ने सुबह ही कुछ परावठे बना दिये थे, जिन्हें चाय के साथ नोश किया गया। हाँ, इधर की कोई पहाड़ी तरकारी भी साथ थी। तीन मील तक तो कल जैसी ही चढ़ाई थी लेकिन व्यास को एक जगह पुल से पार करने के बाद एक छोटे रास्ते (Short cut) से चढ़ना था। यह छोटा रास्ता सचमुच जान-मारू रास्ता था। हर बीस-पच्चीस कदम के बाद कुछ देर के लिये ठहरना 'लाजमी अमर' था। राहुलजी हिमालय में बहुत घूमे हैं लेकिन घूमे हैं अधिकांश घोड़े की पीठ पर। इधर पिछली टाइफाइड की बीमारी और टांसिल के आपरेशन ने उन्हें कमजोर कर दिया है। चढ़ाई में उन्हें कठिनाई होने लगी। मुझे जगह जगह जितने दम लेने की जरूरत होती थी, मैं ठहरकर उन्हें साथ लेने के बहाने ले लेता था। हलका बदन होने से फुर्ती से आगे चला जाता और काफी दम ले लेता। जब तक वह हाँपते हुए पास पहुँचते तब मैं आगे चलने के लिए तैयार रहता। कुछ दूर तक इसी तरह चढ़ाई चढ़ी गई। आगे देखा कि ठाकुर साहब ऊपर खड़े रूमाल हिला रहे हैं। मुझे उनके रूमाल और चढ़ाई के शौक ने ऐसा आकर्षित किया कि कुछ ही देर में मैं शिखर पर जा पहुँचा। यहाँ चारों ओर बर्फ ही बर्फ और तेज हवा—इतनी ठण्डी और जोर की चली कि उड़ा ले जाए। एक चट्टान की ओट में लेटकर राहुलजी का इन्तजार किया गया। कोई आधे घण्टे के बाद राहुल जी पहुँचे। पास ही पानी बह रहा था इतना ठण्डा कि लाहौर-अमृतसर या सारनाथ में हो तो दो-दो पैसे

को एक एक गिलास बिके। उसके किनारे बैठकर कुछ रोटी-तरकारी जो साथ बाँध लाये थे, खाई! ठण्डा पानी पास बहते हुए भी सिर्फ गर्म चाय पी गई। राहुलजी ने तो एक प्रकार से कुछ नहीं खाया।

अब यहाँ से रास्ता कहीं बर्फ पर से और कहीं पत्थरों पर से होकर जाता था। बर्फ पर मिट्टी पड़ जाने से उसकी चमक ताजी बर्फ जितनी तेज न थी, लेकिन फिर भी इतनी तेज कि नंगी आँखों से उसकी ओर देखा ही नहीं जा सकता था। हम लोगों ने अपनी आँखों पर हरे रङ्ग के चशमे (goggles) लगा लिये थे। वही इस बर्फ में आँखों की हिफाजत करते थे; नहीं तो कहते हैं कि यह बर्फ आँखों को जला देती है और आदमी को बड़ा कष्ट होता है—एक दो सप्ताह तक। तीन-चार मील इसी तरह कहीं बर्फ कहीं पत्थरों पर से चलना पड़ा। राहुलजी की थकावट बढ़ती जा रही थी और रफ़्तार घटती, लेकिन हम लोग उन्हें ठहर ठहरकर साथ लेते थे। ३६वें मील के आस-पास तो मालूम हुआ कि राहुलजी बिलकुल ही चूर हो गये। ठा० मंगलसिंह और मैं उनको वैसे ही बढ़ावा देते हुए चलने लगे जैसे कि कोई पाँच-सात वर्ष के बच्चे को। पच्चीस कदम गिनकर एक पत्थर रख देते कि लीजिए अब यहाँ आकर आराम कीजिए। लेकिन जब पच्चीस के पच्चास कदम बना लेते तो राहुलजी उन्हें पच्चीस से घटाकर दस करना चाहते। अब एक नाला आया। दूर से देखने पर उसके किनारे किनारे चल सकना असम्भव मालूम होता था। तीन चार आदमी दूसरी तरफ से आकर हमारे पास से गुजर गए। और ठंडी हवा जो बीच में बन्द हो गई थी फिर चलने लगी सी मालूम दी। ठंडी हवा के चलते समय बर्फ पर

मुसाफिरों का चलना अच्छा नहीं। 'हवा के बढ़ने से पहले-पहले बर्फ पार हो जानी चाहिए, सोच राहुलजी ने हिम्मत बाँधी। मेरे लिए लगातार बर्फ पर चलने का जीवन में पहला मौका था। एक नवीनता थी—एक उत्साह था। मैं आगे-आगे हो लिया। राहुलजी के साथ ठा० मंगलचन्द के होने से मैं उनकी ओर से निश्चिंत था। सोचता था कि आगे कोई पत्थर आएगा वहीं पर इन्तजार करूँगा। लेकिन कहीं कोई पत्थर न आता था। जहाँ तक नजर जाती थी बर्फ ही बर्फ। एक दो जगह बर्फ ही में खड़े खड़े राहुलजी और ठाकुर साहब का इन्तजार करने लगा, लेकिन देखा पाँव सुन्न हो गए। क्या करता? भाग खड़ा हुआ। बहुत आगे जाकर एक तरफ एक पत्थर मिला। सोचा यहाँ खड़ा होऊँगा। ज्योंही उस पर चढ़ा, मालूम हुआ कि जूते में जो बर्फ घुसी हुई है और जिसके मारे सारी जुराब भीग चुकी है वही पैरों को ठंडा कर देने के लिए काफी है। फिर भागा। एक जगह पाँव और मेरी बर्मा छतरी दोनों बर्फ में धँस गए। निकलने के लिये जोर लगाना पड़ा। मैं समझता हूँ कि यदि मेरे साथ छतरी न होती और मैं अकेला धँसा होता तो निकलना उतना आसान न था। कुछ दूर और चलने पर—दो चार बार लुढ़कने पर—बर्फ कम होती दिखाई दी। १३५०० फीट ऊँची रटंग पास (Ratang Pass) पार हो चुकी थी। लेकिन खोकसर, जहाँ हमें आज पहुँचना था, अभी कोई तीन मील दूर था। शरीर को गरमाये रखने की गरज से मैं धड़ धड़ उतरता चला गया। एक जगह टांग ने पलटा खाया तो घुटने में चोट लगी। उस जगह पैर को गर्म रखना ही चोट का एकमात्र इलाज था। बर्फ में लोगों ने अपने

मन के रस्ते बना रक्खे थे, इसलिये मुझे एक आध जगह डर लगा कि कहीं रस्ता न भूल जाऊँ। आगे बढ़ने पर अपने साथी—कुली कुछ दूर पर नीचे जाते दिखाई दिये। पीछे रह गए राहुलजी और ठाकुर साहब का इन्तजार करता तो कैसे करता। मैं कुलियों के पीछे पीछे हो लिया। अब खोकसर की सड़क आ गई जिस पर लिखा था कुल्लु ४१ या ४२ मील, जिसका मतलब था कि खोकसर एक या दो मील रह गया है। आंख पर हरा चश्मा रहने से ऐसा मालूम होता था कि बस अब शाम हुआ चाहती है। मैं राहुलजी के लिए परेशान था। बार-बार चश्मा उतारकर देखता और जब अभी काफी धूप मालूम देती तो कुछ जान में जान आती। सड़क पर जगह-जगह बर्फ मिलती गई—दो-चार जगह ऐसी भी कि लापरवाही करने से नीचे लुड़क जाने का न केवल अन्देशा हो बल्कि पूरा निश्चय। लेकिन खैर, जैसे-तैसे पुल के उस पार खोकसर गांव और पुल के इस पार खोकसर डाक-बँगला दिखाई दिया। कुलियों ने डाक बँगले के पास पहुँचकर अभी सामान रक्खा ही था कि मैं भी पहुँच गया। 'आज का सफर खतम हुआ' सोच, जान में जान आई। लेकिन राहुलजी तो अब तक नहीं पहुँचे थे। अपने खोकसर पहुँच जाने की तो कुछ खुशी थी, लेकिन अकेले पहुँचने का सख्त अफसोस। बार-बार उठ उठकर देखता कि आ तो नहीं रहे हैं। लेकिन कहां! काफी देर के बाद ठाकुर मंगलचन्द पहुँचे। मैंने पूछा "राहुल जी?" बोले "उनसे तो चला ही नहीं जा रहा है। मैं एक डेढ़ मील पर उन्हें छोड़कर आया हूँ कि गर्मागर्म चाय बनवाकर भेजूं।" तब तक मैं ठाकुर साहब के नौकर किरपाराम को टार्च (tarch) लेकर

राहुलजी को लिवा ले आने के लिये कह चुका था। वह जा रहा था। तब ही ठाकुर साहब पहुंचे। तसल्ली इतनी थी कि आज चांदनी रात थी। लेकिन घबराहट तब भी बढ़ रही थी। रह-रहकर मन में आता था कि मैं भी वापिस चलूं। लेकिन किरपाराम को भेज ही चुका था, अपने जाकर क्या करता। वक्त रहते पहुँच गया था यही क्या कम था। खैर, मैं जब दूसरी ओर झांक रहा था तो ठीक दूसरी ओर से (जिधर से आशा न थी) राहुलजी आ पहुँचे। मैंने कहा—"इधर कहां से ?" बोले—"मालूम न रहने से, पुल के उस पार चला गया था।"—"किरपाराम मिला ?"—"हां"।—जान में जान आई। तुरन्त डाक-बँगले में एक चारपाई पर बिस्तरा बिछा दिया। उसी समय किरपाराम गर्मागर्म नमकीन चाय लेकर आ गया जिसे पीते ही राहुलजी सो गये।

डाक-बँगले में दूसरी चारपाई न मिलने से मैंने भी पास ही अपना बिस्तरा लगाया।

एक आने के टिकट में शायद इससे अधिक वृतान्त न भेजा जा सके।

आशा है केलाङ्ग पहुँचने पर तुम्हारा पत्र मिलेगा।

तुम्हारा—
आनन्द कौसल्यान

———

कर्मवाद

सारनाथ

३—२—३८

प्रिय योगेन्द्र,

इस बार जो तुम्हारे पत्र का उत्तर नहीं दिया जा सका या देर से दिया जा रहा है, उसके दो कारण हैं। एक तो मेरी इधर उधर की व्यस्तता और दूसरा तुम्हारे प्रश्न की विशालता तथा गम्भीरता।

यह जान कर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि हमारे महाबोधि विद्यालय की सरकारी मन्जूरी की जो समस्या थी, वह सभी लोगों के सहयोग और सहायता से हल हो गई। कुछ लोगों का जो विरोध था, वह अधिकांश में ग़लतफ़हमी का परिणाम था। लोग कहते हैं कि सत्य की

विजय होती है; लेकिन इस बार मैंने देखा कि सत्य की विजय भी घर बैठे नहीं होती, होती तभी है जब उसके लिए कोई कुछ हाथ पैर हिलाता है। सत्य जीतता है सही, लेकिन तभी जीतता है जब उसे कोई जिताता है।

और तुम्हारा प्रश्न ? उसका क्या थोड़े में उत्तर दिया जा सकता है। मैं तो समझता था कि तुम अपने इस बार के सारनाथ आने तक अपने इस प्रश्न को स्थगित रखते, लेकिन तुम्हारा आग्रह है।

'मनुष्य अपने भाग्य का आप निर्माता है'—अँग्रेज़ी की इस भाव की एक कहावत तुमने सुनी है वा नहीं ? यदि सुनी है और यदि तुम्हें उसके भीतर जो सत्य है वह दिखाई देता है तो तुम इस 'कर्म-अकर्म' के झगड़े को समझ सकोगे।

ज़रा सोचो, एक बालक अत्यन्त दरिद्र घर में पैदा हुआ है, लेकिन बड़ा होकर अपने उद्योग से वह लाखों का मालिक बन जाता है। एक और बालक है, उसके माता पिता हैं निरक्षर भट्टाचार्य्य, लेकिन वह अपनी तपस्या से, विद्याभ्यास से विद्वत्शिरोमणि हो जाता है। एक और बालक, बिल्कुल पतला-दुबला कमज़ोर; लेकिन वह नैपोलियन की तरह एक साम्राज्य का संस्थापक बन जाता है। इसलिए 'मनुष्य अपने भाग्य का आप निर्माता है'—का यही अर्थ है कि संसार में जन्म लेने पर मनुष्य को अपनी परिस्थिति पर काफ़ी अधिकार रहता है और यदि वह प्रयत्न करे तो अपनी परिस्थिति की बाधाओं को तोड़ सकता है।

लेकिन बुद्ध-धर्म एक ओर क़दम आगे जाता है। उसका कहना है कि न केवल हम संसार में जन्म लेने के बाद ही अपनी परिस्थिति के स्वामी होते हैं, बल्कि पहले से उसके स्वामी रहते हैं। यदि हम कमज़ोर पैदा हुए हैं तो उसकी ज़िम्मेदारी हम पर हैं, यदि हम अंधे पैदा हुए हैं, तो उसकी ज़िम्मेदारी हम पर है, केवल यही नहीं; यदि हम अन्धे माता-पिता से पैदा हुए हैं तब भी उसकी ज़िम्मेदारी हम पर है।

"भन्ते! क्या कारण है कि सभी आदमी एक ही तरह के नहीं होते? कोई कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयुवाले, कोई बहुत रोगी, कोई नीरोग, कोई असुन्दर, कोई बड़े सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई बड़े प्रभाववाले, कोई बेवकूफ और कोई होशियार क्यों होते हैं?" राजा मिलिन्द ने स्थविर नागसेन से पूछा।

स्थविर बोले:—'महाराज! क्या कारण है कि सभी वनस्पतियाँ एक जैसी नहीं होतीं? कोई खट्टी, कोई नमकीन, कोई तीखी, कोई कड़ुवी, कोई कसैली और कोई मीठी क्यों होती है?'

"मैं समझता हूँ कि बीजों के भिन्न-भिन्न होने से ही वनस्पतियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं।'

"महाराज! इसी तरह सभी मनुष्यों के अपने अपने कर्म भिन्न-भिन्न होने से वें सभी एक ही तरह के नहीं हैं। कोई कम आयुवाले, कोई दीर्घ आयुवाले होते हैं। महाराज! भगवान् ने भी कहा है—"हे माणवक! सभी जीव अपने कर्मों के फल ही का भोग करते हैं, सभी

जीव अपने कर्मों के आप मालिक हैं, अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं, अपना कर्म ही अपना बन्धु है, अपना कर्म ही अपना आश्रय है, कर्म ही से लोग ऊँचे-नीचे होते हैं।"

'बच्चा आदमी का बाप होता है'—यह अँग्रेज़ी की कहावत है; और यदि उस कहावत का बौद्ध संस्करण तैयार करना हो तो होगा 'बच्चा बाप का बाप होता है।'

पता नहीं तुम इसको किस हद तक सत्य समझोगे। किसी कथन की सच्चाई परखने के कई तरीक़े हैं—सब से अच्छा है ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना। इस पत्र में मैं इसी तरीक़े का अनुसरण कर रहा हूँ।

जीवन के बारे में हमें जो ज्ञात है, जिसे हम अपने चर्म-चक्षुओं से देख सकते हैं, वह इतना ही है—आदमी मरता है, आदमी पैदा होता है! जीवन की वही दो सर्व-प्रधान घटनाएँ हैं। (१) मृत्यु और (२) पैदाइश। हम एक एक करके दोनों पर विचार करें।

पहले हम मृत्यु को ही लें। मृत्यु क्या है? बुद्ध से जब प्रश्न किया जाता है "मृत्यु क्या है?" उनका उत्तर है—यह जो जिस किसी प्राणी का, जिस किसी योनि से गिर पड़ना, पतित होना, पृथक होना, अन्तर्द्धान होना, मृत्यु को प्राप्त होना, काल कर जाना, स्कन्धों का अलहदा अलहदा हो जाना, शरीर का फेंक दिया जाना है—इसे ही भिक्षुओ, मरना कहते हैं। यह एक प्रकार से मृत्यु की परिभाषा हुई। लेकिन हमें सोचना चाहिए कि कोई मरता है तो क्या होता है? होता क्या है, हम मृत व्यक्ति को श्मशानभूमि में ले जाते हैं और उसे या तो जला देते हैं या दबा देते हैं। तब मृत व्यक्ति के शरीर का क्या होता है?

कुछ समय में वह मिट्टी के साथ मिलकर एक हो जाता है। और यदि हम काफी समय के बाद उस जगह पर जाएं जहाँ हमने अपने मृत मित्र को जलाया या गाड़ा था, तो यह असम्भव नहीं कि उस जगह पर कुछ घास उगी हुई देखें, कोई गुलाब का फूल ही लगा देखें। क्या अपने मित्र के जिस्म के किसी हिस्से को हम इस पौधे के रूप में नहीं देख रहे? और फरज करो कि तुम्हारे देखते देखते उस पौधे को एक बकरी चर गई। तब क्या तुम्हारे मित्र के शरीर का कोई अंश बकरी का शरीर नहीं बन गया? और जब तुमने उसका दूध पी लिया, तब क्या तुम्हारे मित्र के शरीर का अंश तुम्हारा अपना शरीर नहीं बन गया?

इस प्रकार तुमने देखा कि मृत्यु होने पर तुम्हारे मित्र के शरीर का अभाव नहीं हुआ, उच्छेद नहीं, हुआ केवल परिवर्तन। लेकिन यह तो हुई भौतिक शरीर की बात। चित्त=मन=विज्ञान का क्या हुआ? मन=चित्त शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है। वह भी किसी रूप में रहा, वा उसका मूलोच्छेद हो गया?

चार्वाकों या जड़वादियों का कहना है कि शरीर के विनाश के साथ, मन का भी विनाश है। लेकिन हमने देखा अभाव के अर्थ में शरीर का भी विनाश नहीं होता, केवल परिवर्तन होता है। तो हम यह भी क्यों न मान लें कि मन भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता ही है। 'जो भाव है वह अभाव नहीं हो सकता, जो अभाव है, उससे भाव नहीं हो सकता'—यह तो गीता की भी शिक्षा है। मरने पर मन का क्या होता है, वह किस रूप में विद्यमान रहता है,

इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर अभी हम अपने इस विचार को यहीं छोड़ें।

अब हम जीवन की दूसरी सर्व-प्रधान घटना को लें। जीवन की दूसरी घटना है पैदाइश। हम पैदा होते हैं, यह एक सत्य है। हाँ, तो पैदा होना क्या है? बुद्ध का कहना है, "यह जो जिस किसी प्राणी का, जिस किसी योनि में जन्म लेना है, पैदा होना है, उतरना है, उत्पन्न होना है, स्कन्धों का प्रादुर्भाव होना है, आयतनों की उपलब्धि है—इसे ही भिक्षुओ! पैदा होना कहते हैं।"

कुछ बच्चों को लो। एक माता-पिता की सन्तान हैं। एक घर में लालन पालन हुआ है। एक स्कूल में एक अध्यापक के पास पढ़े हैं; फिर देखते हैं कि उनकी रुचि में, उनकी योग्यता में, उनकी प्रवृत्ति में ज़मीन आसमान का भेद है। यह भेद, इतना अधिक भेद कहाँ से आता है? कह सकते हैं कि माता-पिता से आया। माता-पिता का बालक पर प्रभाव पड़ता ही है इससे कौन इन्कार कर सकता है? बुद्ध-धर्म को भी इन्कार नहीं, लेकिन क्या बच्चों की प्रवृत्ति और योग्यता में जो इतना भेद देखा जाता है उसकी व्याख्या केवल पैत्रिक-परम्परा से हो सकती है? यदि हाँ तो एक माता-पिता से केवल एक गान्धी, एक नेपोलियन, और एक शेक्सपियर के होने का क्या कारण है, और फिर गान्धी, नेपोलियन तथा शेक्सपियर के लड़के भी गान्धी, नेपोलियन तथा शेक्सपियर क्यों नहीं हुए? योग्य पिताओं के पुत्र प्रायः अयोग्य ही देखे गये हैं।

इस प्रकार केवल पैत्रिक-परम्परा के प्रभाव से मानुषिक चरित्र

की व्याख्या नहीं कर सकते। एक दूसरी व्याख्या भी है बहुत ही सीधी और सरल, 'जिसको परमात्मा ने जैसा बना दिया, वह वैसा है'। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस वैज्ञानिक युग में हम किसी भी घटना-चक्र की ऐसी व्याख्या करने के लिए स्वतंत्र नहीं है जो उपहासास्पद हो। ईश्वर को किसी कार्य का कारण कह कर हम उस विषय में सदा के लिए अज्ञानी बने रहने का ठेका ले लेते हैं।

हमारे सामने दो बातें हैं। एक ओर हम देखते हैं कि एक आदमी मरता है, जिसका अर्थ होता है अनेक-इच्छाओं की, अनेक आकांक्षाओं की, अनेक योग्यताओं की विलीनता, दूसरी ओर हम देखते हैं कि बालक पैदा होता है, जिसका अर्थ होता है, अनेक इच्छाओं का, अनेक आकांक्षाओं का तथा अनेक योग्यताओं का प्रादुर्भाव। बौद्ध-धर्म का कहना है कि जो इच्छाएँ, जो आकांक्षाएँ, जो योग्यताएँ भी विलीन होती हैं, उन्हीं की परम्परा का नए बालक के रूप में प्रादुर्भाव होता है। इसलिये जो कुछ हम आज हैं, हम वही कुछ हैं जो हमने कल तक अपने को बनाया है; और जो कुछ हम कल होंगे, हम वही कुछ होंगे, जो हम आने वाले कल तक अपने को बनाएँगे। हमारा कर्म, हमारे अपने कार्य ही इस सारे भेद-भाव के ज़िम्मेदार हैं। हम अपने कर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। कर्म हमारा पिता है, कर्म माता है, कर्म ही बन्धु है, कर्म की ही हम शरण हैं, जो भी कर्म—अच्छा हो वा बुरा—करेंगे हम उसके जिम्मेदार होंगे।"

यूं तो कर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से है, जिसका अर्थ है करना, इसलिए हमारी सब कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाएँ कर्म

कहलाती हैं, लेकिन विशिष्ट अर्थों में हम अपनी चेतना, अपने इरादों, अपने मानसिक कार्यों को ही कर्म कहते हैं! संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि हमारा मन ही हमारे कर्म हैं। मन सभी कार्यों का पूर्व-गामी है; और मन ही सभी कार्यों का लेखा रखता है। हम कोई भी कार्य करें वाणी से शरीर से—वह मन की प्रेरणा के बिना नहीं होता; और उसका तात्कालिक प्रभाव मन पर पड़ता है। "चेतना (Will) को ही, हे भिक्षुओ, मैं कर्म कहता हूँ"—यह बुद्ध-वचन है।

मनुष्य का मन बड़ी ही मिली-जुली चीज़ है, बड़ी ही उलझी हुई, इतनी उलझी हुई जितनी शायद किसी और प्राणी की नहीं। इसलिए साधारण आदमी के लिए यह असम्भव है कि वह कर्म के नियम को कर्म के कार्य्यों को, कर्म के सञ्चालन को, कर्म की गति को ठीक ठीक समझ सके। एक बुद्ध ही कर्म की गति को ठीक ठीक और पूरा-पूरा जान सकता है। हमारे जैसे साधारण प्राणियों के लिए यह आशा करना कि वह कर्म की गति को पूरा-पूरा समझ सकें दुराशा-मात्र है। बुद्ध ने इस घपले में पड़ना दिमाग़ के लिए खतरनाक तक बताया है।

बौद्ध ग्रन्थों में चित्त-क्रियाओं का विश्लेषण किया है, वर्गीकरण किया है, उनके कार्य्य के विचार से।

कुछ चित्त-क्रियाओं का फल यदि इस जन्म में न मिले, तो फिर वह प्रभाव-शून्य हो जाती हैं, कुछ दूसरी चित्त-क्रियाएँ दो जन्मों तक अपना प्रभाव दिखाती हैं। जिस प्रकार कोई आदमी एक तीर चलावे

और मृग निशाने से इधर उधर हो जाये, तो फिर उस तीर का प्रभाव नहीं रहता—कुछ कुछ इसी प्रकार इन चित्त-क्रियाओं को समझें।

लेकिन अनेक चित्त-क्रियाएँ अनन्त-काल तक अपना प्रभाव दिखाने का सामर्थ्य रखती हैं, वह कभी न कभी अपना प्रभाव अवश्य कर जाती हैं।

क्रिया की दृष्टि से लें; कुछ चित्त-क्रियाएँ जिन्हें पालि में जनक कर्म कहते हैं, मनुष्य के जन्म निश्चय में सहायक होती हैं।

कुछ चित्त-क्रियाएँ परस्पर एक दूसरे के प्रभाव को कम करती हैं, कुछ तो एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट ही कर डालती हैं। कुशल-कर्म अकुशल-कर्म का मूलोच्छेद कर देता है, अकुशल-कर्म कुशल-कर्म का।

फिर चित्त-क्रियाओं पर इस दृष्टि से भी विचार किया गया है कि किसका प्रभाव पहले पड़ता है और किसका उसके बाद। मातृ-पितृ-हत्या सदृश महान् पाप सबसे पहले अपना प्रभाव दिखाते हैं—मनुष्य के मन पर इन चित्त-क्रियाओं का संस्कार बहुत गहरा पड़ता है।

मरने के समय मनुष्य का जो अन्तिम विचार रहता है, उसका भी प्रभाव बहुत ही गहरा होता है। अगले जन्म का निश्चय प्रायः यह अन्तिम विचारही करता है।

कुछ चित्त-क्रियाएँ ऐसी हैं जिनका मन का अभ्यास हो जाता है, जिनका मन अभ्यास-वश गुलाम हो जाता है—ऐसी चित्त-क्रियाएँ अपने प्रभाव के क्रम की दृष्टि से तीसरे नम्बर पर आती हैं।

फिर कुछ चित्त-क्रियाओं को संग्रहीत कर्म भी कहा है; यह एक माल-गुदाम की तरह है जिसके बारे में कोई नहीं कह सकता

कि वहाँ कितने कुशल-कर्मों का ढेर लगा हुआ है, कितने अकुशल-कर्मों का।

मैं जानता हूँ कि चित्त-क्रियाओं का यह विस्तृत वर्गी-करण तुम्हारे लिए बहुत रुचिकर न होगा—किसी के लिए न होगा, सिवाय उन थोड़े से लोगों के जो कर्म की गति को विशेष रूप से समझने का प्रयत्न करना चाहते हैं। लेकिन यदि आदमी के मन में एक बार यह बात बैठ जाए कि वही अपने कर्मों का कर्ता है और उसी पर अपने कर्मों की ज़िम्मेदारी है, तो उसमें कितनी आत्म-निर्भरता आ जाए !

पत्रों में जब किसी आत्म-हत्या का समाचार पढ़ता हूँ, बड़ा दुःख होता है, बड़ी दया आती है। कोई इनको समझावे कि आत्म-हत्या दुःख से मुक्त होने का रास्ता नहीं है। यह तो कुछ ऐसा ही है जैसे कोई लड़का स्लेट को फोड़ डाले, क्योंकि वह उस पर लिखे हुए सवाल को हल नहीं कर सकता। जीवन की समस्या डरपोक की भाँति, कायर की भाँति जीवन से भागने से नहीं सुलझती—वह वीरतापूर्वक उसका मुक़ाबला करने से सुलझती है।

मैं मानता हूँ कि कर्म के सिद्धान्त की आलोचना भी काफ़ी हो सकती है; तुम जो आलोचना करोगे, उसका मैं समाधान करने की कोशिश करूँगा। लेकिन सब बातों पर विचार करने से मुझे यही लगता है कि जब मनुष्य का इस कर्म के सिद्धान्त में कुछ प्रवेश हो जाता है, तभी वह समझता है कि उसके शुभ-कर्म ही उसके सबसे बड़े मित्र हैं और अशुभ कर्म ही सबसे शत्रु। बुद्ध धर्म में कोई सारा कर्म न तो शुभ है; न अशुभ। कोई कर्म जिससे अपनी तृष्णा घटती

हो, लोगों का कल्याण होता हो शुभ-कर्म है और कोई भी कर्म जिससे अपनी तृष्णा बढ़ती हो, लोगों को हानि पहुँचती हो अशुभ-कर्म है।

जो आदमी कर्म के सिद्धान्त को मानता है, उसे न फिर किसी देव का डर है, न दानव का। उसे किसी परम देव की भी परवाह नहीं।

कल या परसों मैं चटगाँव जा रहा हूँ। अगला पत्र शायद वहाँ से लौट कर ही लिखूँ।

तुम्हारा

आनन्द कौसल्यान

कर्मवाद (२)

सारनाथ

३-२-३८

प्रिय योगेन्द्र

कह नहीं सकता कि तुम्हारे बिना तारीख के पत्र को मिले कितने दिन हो गये ? मैंने आज तक उत्तर न दिया। अब सोचता हूँ कि तुमने जो प्रश्न पूछे थे वे तुम्हें याद होंगे या नहीं ? कहीं कोई प्रश्न भूल न गए हो, इसलिए तुम्हारे प्रश्नों को भी दे रहा हूँ। उत्तर में इतनी देर होने के कारण जो प्रतिक्षा करनी पड़ी, उसके लिये क्षमा करना।

प्रश्न १—क्या पुण्य-पाप वास्तव में कोई चीज़ है ? क्या पुण्य में हिस्सा भी बँटाया जा सकता है ?

उत्तर:—'पुण्य' शब्द की उत्पत्ति है पालि के 'पुनोति' शब्द से; जिसका अर्थ है पवित्र करना; हम कोई भी काम करें, हमें प्रसन्नता होगी अथवा अप्रसन्नता, हमारे मन में पवित्रता आयेगी अथवा अपवित्रता। इस प्रसन्नता या पवित्रता का नाम है 'पुण्य' और अप्रसन्नता और मलिनता का नाम है 'पाप'। जिन कार्यों से व्यक्ति-विशेष को अवस्था-विशेष में प्रसन्नता-पवित्रता प्राप्त होती है और जिनसे मन की अप्रसन्नता मलिनता होती है उन कार्यों को भी 'पुण्य' तथा 'पाप' कहते हैं। बिना परिस्थिति का विचार किए किसी को पुण्यात्मा, किसी को पापी बनाने की गलती बहुत लोग करते हैं। यह सर्वथा अन्याय है। एक ही कार्य अवस्था भेद से दो आदमियों के लिये पुण्य अथवा पाप हो सकता है। रही पुण्य में हिस्सा बँटा सकने की बात। यदि दस आदमी मिलकर किसी एक शुभ कार्य को करें तो उससे जो प्रसन्नता प्राप्त होगी उसमें दस हिस्सेदार होंगे ही। एक आदमी किसी एक शुभ कर्म को करके उसके फल स्वरूप जो पुण्य मिलता है, उसमें दूसरों को भी अपना हिस्सेदार घोषित करके अपने हृदय की उदारता का परिचय दे सकता है तथा उसे बढ़ा सकता है। फिर, किसी भी कार्य में कुछ न कुछ सहायता दूसरों से प्राप्त होती ही है। इसीलिए बर्मा में जब कोई शुभ कर्म किया जाता है, तो लोग एक घंटी बजाते हैं; जिसका मतलब होता है कि जिनके कानों में घंटी की आवाज़ पहुँचे, सभी अपने को उस पुण्यकृत्य में हिस्सेदार समझें।

प्रश्न २—क्या एक आदमी के पुण्य और पाप दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं?

उत्तर—हाँ, इतिहास में हम देखते हैं कि एक आदमी का देश-द्रोह देश को चौपट कर देता है, और एक आदमी की देश-सेवा देश का सिर ऊँचा कर देती है। उसके साथ, यह भी सत्य है कि देश जब चौपट हो जाता है, तभी उसमें देश-द्रोही पैदा होते हैं और देश में जब नवजीवन का संचार होता है तभी उसमें विशेष विभूतियाँ जन्म लेती हैं। महान् पुरुष जाति की उन्नत-अवस्था के परिचायक अधिक होते हैं और कारण कम।

प्रश्न ३—मनुष्य को अपना भाग्य-विधाता कहा जाता है; जिसका मतलब है कि वह जैसी चाहे वैसी परिस्थिति में जन्म ग्रहण कर सकता है। तब, क्या कारण है कि जब कोई भी आदमी अन्धा नहीं पैदा होना चाहता, तो भी अन्धा पैदा हो जाता है?

उत्तर—हम स्वयं अपनी इच्छाओं को ठीक-ठीक नहीं समझते। यदि हमें कोई कहे कि आप कुत्ते का जन्म ग्रहण करने की इच्छा करते हैं, तब हम नाराज़ हो जायेंगे; लेकिन क्या उस समय जब हम दिन-रात कुछ न कुछ खाने की ही बात सोचते रहते हैं, कुत्ते का जन्म ग्रहण करने ही की इच्छा नहीं करते? हमारी निरन्तर खाते रहने की इच्छा की इससे अच्छी पूर्ति क्या हो सकती है कि हम कुत्ते बन जायँ और दिन रात दर दर के टुकड़े ही खाते फिरा करें।

प्रश्न ४—"अविद्या के होने से संस्कार और संस्कार के होने से विज्ञान की उत्पत्ति होती है।" यदि यह बात ठीक है तो अगणित पशु-पक्षी कीट-पतंगादि में विज्ञान है या नहीं? (वृक्षों में न सही)

उत्तर—आदमी ही नहीं, पशु-पक्षी तथा कीट-पतंग आदि सभी प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम के आश्रित हैं। अपने और इतर प्राणियों में यह समानता रुचि-कर न होने से हमें जल्दी मान्य न होगी; लेकिन मान्य क्यों न हो?

प्रश्न ५—यदि कर्म ही सब कुछ है तब तो हम कर्म के बन्धन में जकड़े हुये हैं। हम उससे किसी प्रकार मुक्त हो ही नहीं सकते?

उत्तर—'कर्म' शब्द से हमें पिछले जन्म के कर्म ही नहीं समझने चाहिएं। आदमी अपने किये को भोगता है; लेकिन, जो कुछ आदमी भोगता है वह किए का फल ही नहीं होता। पिछले किए कर्मों के अतिरिक्त आदमी को सुखी या दुखी बनाने वाले और भी कारण हैं; जैसे ऋतु-परिवर्तन आदि। यदि किसी के सिर में दर्द हो, तो उसको हमेशा पाप का ही परिणाम समझना गलती है। सर्दी-गर्मी के प्रकोप से निष्कलंक से निष्कलंक आदमी को भी सिर दर्द हो सकता है।

हमारे पिछले कर्म हमें प्रभावित करते हैं, लेकिन हमारे रास्ते को सर्वथा कभी नहीं रोक सकते। माना कि हम इतने 'स्वतन्त्र' नहीं कि हमारा गए-कल का जीवन आज के जीवन को प्रभावित न करे, लेकिन हम इतने परतन्त्र भी नहीं हैं कि हम आज नया कुछ कर ही न सकें। अपनी इच्छा के अनुसार अपने आगामी कल को बना ही न सकें। देर में या जल्दी से हम अपने भविष्य को जैसा चाहें वैसा ढाल सकते हैं।

प्रश्न ६—"निर्वाण में यदि सत्त्व का ध्वंस हो जाता है, बाद को कोई विज्ञान या सत्व नहीं रहता, तो उच्छेदवादी नास्तिक भी तो यही

कहते हैं कि मरने के साथ ही जीव का ध्वंस हो जाता है; फिर उस व्यक्ति का जीवात्मा नहीं रहता। इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में क्या भेद और विशेषता है ?"

उत्तर—नैरात्म-वादी 'सत्त्व' का 'ध्वंस' मानते हों सो बात नहीं; सत्त्व का अस्तित्व ही नहीं मानते और ध्वंस तो तब हो जब अस्तित्व हो। उच्छेदवादी सत्त्व का अस्तित्व मानते हैं और ध्वंस भी मानते हैं।

नैरात्म-वादी, आत्मा=पुद्गल=जीव का अस्तित्व न मानने से अहंकार-रहित हो सकता है। अहंकार-रहित होने से तृष्णा-रहित हो सकता है। तृष्णा-रहित होने से जाति-जरा-मरण के बन्धन से छूट सकता है।

उच्छेद-वादी सत्त्व का अस्तित्व मानने से (भले ही वह चार महा-भूतों में ही सत्त्व संज्ञा का आरोपण करे) 'अहंकार'-रहित नहीं हो सकता। 'अहंकार'-रहित न हो सकने से तृष्णा-रहित नहीं हो सकता। तृष्णा-रहित न हो सकने से जाति-जरा मरण के बन्धन से नहीं छूट सकता।

जीव का अस्तित्व मानने वाले के भाग्य में एक ही चीज लिखी है, फिर चाहे वह शाश्वत-वादी हो चाहे उच्छेद-वादी। जीव का भ्रम अहंकार का मूल है और अहंकार सब पापों का।

संक्षेप में तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर आ गया न? मुझे मालूम होता है कि इनमें से एक दो प्रश्न तुम्हारे अपने नहीं हैं। किसी के हों, मैंने उत्तर दे दिया है। उन्हें यदि मेरे उत्तर से सन्तोष न हो, तो कह देना कि सीधा लिख कर पूछ लें।

तुम क्यों मुफ़्त में बीच के बिचौलिया बनते हो ?

मैं तीन महीने से यहाँ गोरखपुर में हूँ। अभी इधर ही रहूँगा। चिट्ठी देनी हो तो C/o श्री महावीर प्रसाद जी पोद्दार, उर्दू बाज़ार, गोरखपुर, लिखना।

तुम्हारा—

आनन्द कौसल्यायन

मैं भिक्षु क्यों हुआ ?

छपरा

१-३-३६

प्रिय योगेन्द्र,

व्यक्तिगत प्रश्नों का उत्तर देने में आदमी को एक स्वाभाविक संकोच होता है। मुझे ऐसा लगता है कि उसी संकोच के कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्न को टालता आया हूँ। लेकिन देखता हूँ कि तुम तो मेरे पीछे ही पड़ गये हो और जब तक यह न जान लोगे। कि मैं भिक्षु क्यों हुआ तब तक मेरा पल्ला न छोड़ोगे। प्रश्न है समुचित, उसमें अनुचित कुछ भी नहीं। तुम्हारी तरह और भी कइयों ने अनेक बार पूछा है। कभी उत्तर में कुछ कहना भी पड़ा है। लेकिन अब दस वर्ष के बाद ठीक ठीक यह कह सकना कि किसी समय मैं भिक्षु क्यों हुआ,

सहज नहीं। सचाई की दृष्टि से मुझे अपने उस समय की मनःस्थिति और बाह्य परिस्थिति की बात कहनी चाहिए। लेकिन क्या वह ठीक ठीक सम्भव है? अविच्छिन्न रूप से सतत बहती चली आई चित्त-संतति की धार में न जानें तब से और कितने रङ्ग पड़ गये हैं। इसलिए आज जब मैं अपने भिक्षु होने की बात लिखनें बैठा हूँ तो मुझे डर है कि उसमें अतीत की अपेक्षा कहीं वर्तमान की ही रङ्गत अधिक न हो।

मनुष्य कोई भी कार्य एक से अधिक करणों से ही करता है। कोई भी कदम एक से अधिक बातों पर विचार करके ही उठाता है। किसी भी बात का, किसी भी कार्य का, कभी एक ही कारण नहीं होता। तो मेरे भिक्षु बनने के कौन कौन से कारण थे?

मुझे याद आता है कि अपने विद्यार्थी-जीवन में मैंने प्रसिद्ध देश-भक्त लाला हरदयाल एम० ए० लिखित एक किताब पढ़ी थी—शिक्षा-सम्बन्धी विचार (Thoughts on education)। उसमें एक परिच्छेद था—पेशे का चुनाव (Choice of a profession)। मनुष्य को अपना पेशा चुनते समय क्या यह सोचना चाहिये कि किस पेशे में सबसे अधिक आमदनी है? क्या यह सोचना चाहिए कि किस पेशे में अधिक आराम है? क्या यह सोचना चाहिए कि किस पेशे में सबसे अधिक हुक्म चलाने को मिलता है? क्या यह सोचना चाहिए कि किस पेशे में सबसे कम काम करना पड़ता है? कुछ इसी प्रकार की बातों पर विचार करके लाला हरदयाल ने यह निर्णय उपस्थित किया था कि मनुष्य को वही पेशा ग्रहण करना चाहिए जिसे ग्रहण करके वह समाज की अधिकसे अधिक सेवा करे। लेकिन भरण-

पोषण का—अपने खाने-कपड़े का भार डाले समाज पर कम से कम। उन्होंने किसी भी पेशे के अच्छे या बुरे होने के लिए यही मापदण्ड स्वीकार किया था। जिस पेशे को ग्रहण करके आदमी जितनी ही अधिक समाज की सेवा कर सके, और जितना ही कम समाज पर भार बने, वह पेशा उतना ही अच्छा।

हाँ, तो अपनी शिक्षा समाप्त कर, मैं किसी पेशे की तलाश में था। मुझे याद आता है, मैं अपने आस-पास, कालेजों में पढ़नेवाले हजारों नौजवानों की जिन्दगी पर विचार करता था। मैं सोचता था कि, हम लोग पढ़-लिख-कर किसी न किसी दफ़्तर में क्लर्की करेंगे, कोई छोटी-बड़ी नौकरी करेंगे, और दिन-रात उसमें ऐसे नाधे जायेंगे जैसे कोल्हू के बैल। शादी होगी, बच्चे होंगे, नून-तेल लकड़ी का किस्सा होगा और एक दिन फिर चल बसेंगे। यही होगा हम हजारों जवानों के जीवन का इतिहास। क्या हममें से कोई नागरी लिपि जैसी वैज्ञानिक लिपि के प्रचारार्थ विदेश जाने की बात सोचेगा? क्या हममें से कोई अन्य प्रान्तों की भाषाएँ सीखकर उनमें अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करने की बात सोचेगा? क्या हममें से कोई किसी दूसरे देश के न सही, अपने ही देश के अज्ञात भौगोलिक प्रदेशों की यथार्थ जानकारी के लिए उन प्रदेशों का पर्यटन करने की बात सोचेगा? जैसे शिवाजी ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध बगावत करने की बात सोची थी, उसी प्रकार क्या हममें से कोई अँगरेजी साम्राज्य के विरुद्ध बगावत करने की बात सोचेगा? ऐसे विचार दूसरों के लिए भी थे, लेकिन मुख्य रूप से अपने लिए थे। कभी कभी मैं सोचता था कि स्वतन्त्र हिन्दू राज्य नेपाल में

जाकर कुछ करूँ। नेपाल जाना साधारणतया शिवरात्रि के मौके पर ही हो सकता है। मेरी अन्तिम वर्ष की परीक्षा शिवरात्रि के बाद होनेवाली थी। नेपाल जाने की धुन में मैं अपनी परीक्षा तक छोड़ने के लिए तैयार हो गया था।

हां, तो मैं कुछ साहस के कार्य करना चाहता था।

मुझे याद है कि आर्यसमाज के वेदों को अपौरुषेय तथा सारी विद्याओं का भण्डार मानने के सिद्धान्त ने मेरे मन में अजीब खलबली मचा दी थी। हमारे इतिहास के अध्यापक श्रद्धेय जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने हमें बताया था कि वेद हमारे पूर्वजों की ऐसी कृति हैं कि जिन पर हम यथार्थ में अभिमान कर सकते हैं। और आर्यसमाज के बड़े-बड़े विद्वान् कहते थे कि वेद अपौरुषेय हैं, सब विद्याओं का भण्डार हैं। यों विवाद के लिए तो कोई भी पक्ष ग्रहण किया जा सकता है। लेकिन मेरे लिए पक्ष-विशेष के ठीक या गलत होने का बड़ा गम्भीर अर्थ था। मैं सोचता था, यदि वेद में समस्त ज्ञान है तो सब काम छोड़कर मुझे सबसे पहले वैदिक-संस्कृत ही सीखनी चाहिए। मैं आर्य-समाज के पण्डितों से सवाल किया करता कि महाशयजी, 'वेद' शब्द का ठीक ठीक अर्थ क्या है? क्योंकि मैं देखता था कि यथा-अवसर वह कहीं तो 'वेद' का अर्थ चार किताबें करते हैं और कहीं केवल ज्ञान। अपने इस प्रश्न के मुझे जितने उत्तर मिले वे सब मेरे असन्तोष को उत्तरोत्तर बढ़ाते ही रहे। इसी प्रश्न की उधेड़-बुन में बहुत दिन तक संस्कृत की किताबें थैले में डाले घूमता रहा। स्वामी दयानन्द की निर्वाण-भूमि होने के कारण अजमेर का मेरे लिए बड़ा आकर्षण था। जब मैं एक बार

घूमता घूमता वहां पहुँचा तो वहां के एक साधु-आश्रम में रहकर संस्कृत पढ़ने की इच्छा प्रगट की। एक स्वामीजी ने पूछा—तुम कहां से आये हो ? मैंने घर का पता ठिकाना बताया। बोले—इतनी दूर आये हो, कहीं बीच में संस्कृत पढ़ने का ठिकाना ही नहीं लगा ! मेरा उत्तर था:— "संस्कृत की पढ़ाई और भोजन दोनों का एक साथ जुगाड़ कहीं नहीं लगा। जहां भोजन मिलता रहा वहां संस्कृत की पढ़ाई नहीं, जहां पढ़ाई का प्रबन्ध वहां भोजन नदारद।" दो ही चार दिन में मुझे पता चल गया कि आश्रम के प्राय: सभी साधु ऐसे पण्डित हैं कि यदि उन्हें एक पोस्टकार्ड लिखने की जरूरत हो तो वे उसका मजमून पहले स्लेट पर लिखेंगे, शुद्ध करेंगे और तब कहीं वह मजमून पोस्टकार्ड पर नकल होगा। उस साधु-आश्रम में अधिक दिन रहकर क्या मैं भाड़ झोंकता ?

मुझे याद है, और भुलाये नहीं भूलते अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भिक एक दो वर्षों के कुछ अनुभव। उनकी स्मृति मधुर नहीं है, इसलिये आज मैं उनका उल्लेख न करूँगा। मुझे लगा कि 'देश-सेवा' के क्षेत्र में भी वैसी ही धाँधली है जैसी कई और क्षेत्रों में। जिन्होंने जन्म भर दुनिया के ऐश-आराम लूटे हैं और लोगों के पसीने की कमाई से अपना घर भर रखा है, वे उस वक्त भी जब कि कब्र में पैर लटकाये बैठे हों, अपनी इकट्ठी की हुई दौलत में से कुछ हिस्सा सार्वजनिक-संस्थाओं को देकर दो दिन में 'त्याग-मूर्ति' बन जाते हैं। और वे जिन्होंने उन्हीं की तरह कमाने की सामर्थ्य रख कर भी अपनी जवानी के आरम्भ में ही देश-सेवा का कठिन व्रत ले लेने के कारण उधर मुँह ही नहीं किया, जो जन्म भर देश के लिए तपस्या करते रहे वे उन "त्याग

मूर्तियों" के सामने ऐसे फीके रहते हैं जैसे चन्द्रमा के सामने तारे। जिन्होंने बदन में एक बार कालिख पोत कर उसे धोया उनकी कहीं अधिक कदर होती है उन लोगों की अपेक्षा जिनका मुँह सदा ही निर्मल रहा।

इस धांधली का एक और पहलू भी है। जिनके घर खाने-पीने को है, जो सार्वजनिक रुपये में से बड़ी-बड़ी तनख्वाहें लेते हैं वे यदि मोटर में बैठकर चन्दा मांगने निकलते हैं तो उन्हें खूब चन्दा मिलता है। वे यदि सार्वजनिक पैसे का अपव्यय करें तो प्रायः उधर से आंख बन्द कर ली जाती है। लेकिन जो गरीब घर में पैदा हुए हैं, जो सार्वजनिक पैसे में से ठीक अपनी आवश्यकता भर लेते है और अपनी आवश्यकता को कम से कम रखने की कोशिश करते हैं, जो सच्चे अर्थों में देश के सिपाही हैं वे जब पुनीत से पुनीत कार्य के लिए भी चन्दा मांगने निकलते हैं तो वे कहीं कुछ नहीं कर पाते और उनके हाथ से यदि सार्वजनिक रुपये का एक पैसा भी इधर-उधर हो जाये तो फिर वे कहीं के नहीं रहते।

इस प्रकार की धाँधली का उस समय मेरे मन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि 'देश-सेवा' के क्षेत्र में भी या तो धनियों के लिए ही स्थान है या फिर उनके लिए जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहें लें।

नतीजा यह हुआ कि अपने सार्वजनिक जीवन के प्रथम वर्ष में ही मेरे मन में एक मौन किन्तु दृढ़ संकल्प हो गया कि मैं कभी किसी संस्था से गुजारे के लिए कुछ लेकर "वेतन-भोगी" देश-सेवक नहीं बनूँगा।

हाँ तो जिस समय मैंने अपने जीवन का पेशा स्थिर नहीं किया था,

जिस समय साहसी जीवन के प्रेम में बिना पैसे के लगभग सारे भारत की चारिका (भ्रमण) कर चुका था जिस समय वेदों को वा किसी भी ग्रन्थ को प्रमाण मानने न मानने का द्वन्द्व मेरे हृदय में चल रहा था उस समय बाबा रामोदर दास (श्रद्धेय राहुलजी) की प्रेरणा और निमन्त्रण के बल पर मैं सिंहल पहुंचा। अपने भारत-भ्रमण के सिल-सिले में मैं लुम्बिनी, बुद्ध-गया, सारनाथ, कुशीनगर आदि सभी बौद्ध-तीर्थों की यात्रा कर चुका था। लेकिन उससे क्या ? बौद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों के बारे में तो मैं ऐसा ही अनभिज्ञ था जैसा कोई भी साधारण भारतवासी। सिंहल पहुंच कर जब मुझे पता लगा कि बौद्धधर्म केवल प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण को मानता है और उसमें शब्द-प्रमाण के लिए बिलकुल जगह नहीं तो मेरे दिल की कली खिल गई। मुझे अकथनीय सहारा मिला। आज मेरे लिए शब्द-प्रमाण को मानने न मानने का प्रश्न उतने महत्व का नहीं; लेकिन उस समय यही मेरा सर्वस्व था। बहुत बड़े मानसिक संघर्ष के बाद मुझे पुस्तकों की गुलामी से आज़ादी मिली।

उन दिनों मेरा अधिक समय राहुलजी से संस्कृत पढ़ने में व्यतीत होता। लेकिन अब आँख खोलकर पढ़ता था। उपनिषदों से अब यह आशा न रह गई थी कि किसी दिन अचानक उनमें से कोई ऐसी बात निकलेगी जो हमेशा के लिए ज्ञान-चक्षु खोल देगी। उपनिषदों को भी मैं और ग्रन्थों की तरह सत्यासत्य विचारों का ही समूह मात्र समझता।

शब्द-प्रमाण का तो यह हाल हुआ और आत्मा तथा परमात्मा

का ? राहुलजी ने मेरे गले यह बात उतारी कि यदि तुम शब्द-प्रमाण नहीं मानते तो तुम्हारे आत्मा और परमात्मा के लिए भी गुञ्जाइश नहीं। एक महीने तक मैं इस बात की कोशिश करता रहा कि शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त आत्मा-परमात्मा का कोई दूसरा मददगार मिल जाय। लेकिन जब वेदान्त सूत्रों को भी 'शास्त्रयोनित्वात्' की ही दुहाई देते देखा तो कुछ आशा न रही। शास्त्र की प्रामाणिकता के साथ आत्मा और परमात्मा भी जाते रहे।

अविवाहित रहकर देश की जो बन पड़े सेवा करते रहने का संकल्प था ही, जीवन-निर्वाह के लिए किसी भी निश्चित व्यक्ति वा संस्था से कुछ न लेना चाहता था। आदर्श और व्यवहार दोनों को साथ साथ निभा सकने की समस्या थी। मुझे लगा कि भिक्षु-जीवन मेरे प्रश्न का एक मात्र उत्तर है।

दिल जब किसी आदर्श की ओर एक बार लुढ़क जाता है तो दिमाग़ के पास दलीलों की कमी नहीं रहती। अब मैं जिधर सोचता उधर मुझे भिक्षु-जीवन ही भिक्षु-जीवन दिखाई देता।

१० फरवरी १९२८ को पूज्य गुरुदेव लु० धम्मानन्द के हाथों दीक्षा मिली और एक वर्ष बाद भिक्षु संघ ने नियमपूर्वक उपसम्पदा दी। जीवन में इससे बढ़कर सम्पत्ति आज तक कहीं से प्राप्त न हुई।

यदि मैं यह कहूँ कि उस समय मैंने अपने भिक्षु-जीवन की जैसी कल्पना की थी वह ठीक ठीक उसके अनुरूप ही व्यतीत हुआ तो यह सत्य न होगा। साधना-पथ कभी भी समतल नहीं रहा है। मुझे भी

बहुत ऊँच-नीच देखनी पड़ी। सन्तोष इतना है कि साधना में आज भी श्रद्धा अडिग है।

विनय-पिटक में भिक्षुओं के सैंकड़ों नियम हैं। तुम पूछोगे कि आप कहाँ उन सब नियमों का पालन करते हैं? विनय-पिटक के नियम ढाई हज़ार वर्ष पहले की चीज़ हैं। देश, काल बदल जाने से उनका अक्षरशः पालन न सम्भव है, न वाञ्छनीय। हाँ, कई नियम ऐसे हैं जिनको यदि मैं पालन कर सकता तो मुझे ऐसा लगता है कि वे मेरे सन्तोष में वृद्धि का कारण होते।

लेकिन जीवन के अपने भी तो नियम हैं। वह विनय-पिटक के ही नियमों को कहाँ तक माने। जीवन-धारा जब बहती है तो नियम-उपनियमों की रेखाएं उसके लिए अलंघ्य नहीं रहतीं। इन नियम-उपनियमों के पीछे भिक्षु-जीवन के आदर्श की जो प्रेरणा है वही मेरी मार्ग-प्रदर्शिका रही है। सो आगे भी रहे।

तुम्हारा—

आनन्द कौसल्यायन

छात्र-हितकारी पुस्तकमाला

के प्रकाशन

सदाचार, एवं जीवन सुधार सम्बन्धी पुस्तकें

(१) ब्रह्मचर्य ही जीवन है	[स्वामी शिवानन्द]	।।।)
(२) सफलता की कुंजी	[स्वामी रामतीर्थ]	।)
(३) ईश्वरीय बोध	[रामकृष्ण परमहंस]	।।।)
(४) मनुष्य जीवन की उपयोगिता	[केदारनाथ गुप्त]	।।=)
(५) धर्म पथ	[महात्मा गांधी]	।।।)
[६) भाग्य निर्माण	[ठा० कल्याणसिंह शेखावत]	१।।।)
(७) वेदान्त धर्म	[स्वामी विवेकानन्द]	१।)
(८) अहिंसाव्रत	[म० गांधी]	।।।)
(९) भिक्षु के पत्र	[आनंद कौसल्यायन]	।।।)

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी

(१) हम सौ वर्ष कैसे जीवें	[केदारनाथ गुप्त]	१)
(२) मनुष्य शरीर की श्रेष्ठता	[देवीप्रसाद खत्री]	।=)
(३) स्वास्थ्य और व्यायाम	[केशव कुमार ठाकुर]	१।।)
(४) स्वास्थ्य और जलचिकित्सा	[केदारनाथ गुप्त]	१।।)
(५) दूधही अमृत है	[हनुमान प्रसाद गोयल]	१।।)
(६) आदर्श भोजन	[लक्ष्मीनारायण चौधरी]	।।।)
(७) फल उनके गुण तथा उपयोग	[केशव कुमार ठाकुर]	१।)

काव्य

(१) कवितावली रामायण	[गोस्वामी तुलसीदास]	१।।)
(२) मदिरा	[तेजनारायण काक]	१)

समालोचना व निबंध

यात्रा, खोज व आविष्कार सम्बन्धी

नाटक और प्रहसन

कहानी एवं जीवन-चित्रण

(६) पुण्य स्मृतियां [गांधीजी] ।||)
(७) बुद्ध और उनके अनुचर [आनन्द कौसल्यायन] १)
(८) गांधीजी [प्रभुदयाल विद्यार्थी] ||)
(९) भारत के दशरत्न [केदारनाथ गुप्त] ||)
(१०) महापुरुषों की जीवन झांकी [प्रभुदयाल विद्यार्थी] १)

गल्प व उपन्यास

(१) वीर राजपूत [नाथ माधव] १)
(२) एकान्त वास [गणेश पांडेय] ।||)
(३) पतिता की साधना [पं० भगवतप्रसाद वाजपेयी] २)
(४) अवध की नवाबी [चंडीचरण सेन] २)
(५) मझली रानी [रामकृष्ण वर्मा] २)
(६) सोने की ढाल [राहुल सांकृत्यायन] २||)
(७) जादू का मुल्क [,,] २||)
(८) रत्नहार [ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल'] १||)
(९) कोलतार [मिर्जा अजीमबेग चगताई] २)
(१०) शरीर बीबी [,,] २)

स्त्रियोपयोगी

(१) स्त्री और सौन्दर्य [ज्योतिमयी ठाकुर] ३)
(२) महिलाओं की पोथी [रामबत्ती त्रिपाठी] १||)
(३) पाक विज्ञान [ज्योतिर्मयी ठाकुर] २||)

राजनैतिक

(१) जागृतिका सन्देश [स्वा० विवेकानन्द] १)
(२) साम्यवाद ही क्यों ? [राहुल सांकृत्यायन] ||)
(३) क्या करें ? [राहुल सांकृत्यायन] १)
(४) भारत में सशस्त्र क्रान्ति का रोमांचकारी इतिहास २||)